

समरथ



सितंबर-दिसंबर 2014 ♦ नई दिल्ली



संघर्ष
जो अभी
ठहरा नहीं है...

नाहि तो जनम नसाई

‘कृषि प्रधान देश’, ‘गाँवों का देश’ जैसे बहुश्रुत विशेषणों वाला यह देश लगातार कृषि और कृषकों के लिए असहिष्णु होता जा रहा है। और, ऐसा हो रहा है सरकारों की रीति-नीति की वजह से। माने सिर्फ मौजूदा सरकार नहीं बल्कि आज़ाद भारत की सभी सरकारों की अभूतपूर्व कृषि नीतियों और उनकी उदासीनता ने किसानों और किसानों की कमर तोड़ दी। भारत में खेती सिर्फ एक पेशा नहीं बल्कि जीने का एक तौर है। कृषि के लगातार क्षरण ने सतत सांस्कृतिक विस्थापन पैदा किया है जो हमें प्लास्टिक जीवन शैली की तरफ, एक आक्रामक और अपरूटेड बाज़ार की तरफ धकेल रहा है। यह बाज़ार जो हमसे विच्छिन्न है और विकास की सबसे बड़ी कसौटी बन चुका है।

‘विकास’ हमारे दौर का एक शब्द जो एक ही समय में लोगों को लुभाता भी है, डराता भी है। अघाये लोगों को लुभाता हुआ और ‘विकास’ के शिकारों को डराता हुआ। यह अपने सह-उत्पाद के रूप में एक दक्षिणपंथी अधिनायकवादी सरकार उपहार में लाता है। विकसित देशों द्वारा फेंक दी गई विकास परियोजनाओं-बड़े बांध, ताप बिजलीघर आदि जैसे टूटी नावों से हमें सागर पार करने के मंसूबे बांधे जा रहे हैं और यह सब एक बार फिर किसानों और किसानों को रौंदकर एक तरफ ज़मीनें छीनी जाती हैं बाकी बची ज़मीनें, पानी, परियोजनाओं का कचरा झेलते हुए दम तोड़ने लगती हैं।

समर्थ का यह संयुक्तांक कृषि के इस संकट और ‘विकास’ का दावा करने वाली दो परियोजनाओं (कनहर बांध जो अभी प्रक्रिया में है, पानीपत थर्मल प्लांट अपनी स्थापना के तीन दशक पूरे कर चुका है) का सच टटोलने की कोशिश करता है। खेती पर मार और उसके स्थानीय मिज़ाज और स्थानीय संकटों को समझने में असमर्थ सरकारों की असंवेदनशीलता से उपजी त्रासदी की पड़ताल है लेख ‘बंगलादेशी घुसपैठिये या बांगलाभाषी भारतीय मुसलमान’। इस अंक में है पूस की दांत किटकिटाते शीत और जीवनप्राण वत्सला धूप को समर्पित प्रसिद्ध बांगला कवि सुकांत भट्टाचार्य की कविताएं

प्रार्थी

ओ सूर्य! शीत ऋतु के सूर्य!
लंबी बर्फीली रातों में
हम तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं--
प्रतीक्षा करती हैं जैसे
किसान की चंचल आँखें
धानकटाई के रोमांचक दिनों की।

ओ सूर्य! तुम तो जानते हो,
हमारे पास नहीं हैं गरम कपड़े!

सारी रात घास-पात जलाकर
कानों को एक टुकड़े कपड़े से ढंक कर
कितनी मुश्किल से हम रोकते हैं ठंड!

सुबह की एक टुकड़ा धूप--
सोने के एक टुकड़े से भी बेशकीमती लगती है।
घर-बार छोड़कर एक टुकड़ा धूप की आस में
हम इधर-उधर भटकते रहते हैं।

ओ सूर्य!
तुम हमारे सीलन-भरे भीगे घरों को
उत्ताप और उजाला देना,
और गर्माहट देना
रास्ते किनारे के इस नंगे बच्चे को।



■ सुकांत भट्टाचार्य

ओ सूर्य!
तुम हमें गर्माहट देना--
सुना है, तुम एक धधकते अग्निपिंड हो,
तुमसे गर्माहट पा-पाकर
हो सकता है एक दिन शायद हम भी बदल जाएं
धधकते हुए एक-एक अग्निपिंड में।

फिर जब उस उत्ताप से जलकर मिटेगी हमारी जड़ता
तब शायद हम
रास्ते किनारे के नंगे बच्चे को
दे सकेंगे गरम कपड़े।

आज लेकिन हम सब
तुम्हारी उदार ऊष्मा के प्रार्थी हैं।

धूप का गीत

यहाँ उदार सूर्य दोनों हाथों से बिखेरता है
सोने जैसी तेज हाला,
जिस सुनहली हाला को पीकर
धान के खेत सब ओर गढ़ते हैं अपना जनपद।

भारती! तुम्हारा लावण्य देह को ढांपता है
धूप तुम्हें पहनाती है सोने का हार,
सूर्य सुखाता है तुम्हारे हरे केश
प्रियसी, तुम्हारे कितने ही तो अभिमान हैं!

साल भर यहाँ बंधक रहता है सूर्य
धूप से झुलसता है कोई मौन पहाड़,
अबाध धूप भरी है तेज दहन से
इस धूप में झुलसने दो अपना और मेरा मन।

धूप की बाबत में बुलाओ प्रदेश को
कोषागार में भरे सोने को मुट्ठी भर-भरकर बाँटो,
मैदान और जंगल झिलमिलाते हैं धूप में
कितना मधुर है यह धूप में प्रहर का गिनना!

धूप में कठोर उत्पात मचाता है उजाला
उसके सीने में झिलमिलाते हैं इशारे,
सुनसान नीरव मैदानों में धूप की प्रजा
जानता हूँ... सूर्य के सामने स्तुति करती है।

सुनसान राजपथ पर
सूर्य के प्रतिनिधि का आसन्न कलरव है
दोपहर कठोर ध्यान के अंत में
जानता हूँ एक निर्भय उत्सव है।

तभी तो यहाँ सूर्य खदेड़ देता है रात को
प्रियसी, तुम क्या आज बादलों से डर रही हो?
कौतुकवश यह बादल आज दिखाते हैं डर
लेकिन पलभर में यह बादल जरूर छंट जाएंगे।

सूर्य, आज तुम्हें मैं यहाँ बुला रहा हूँ—
मेरा मन कमजोर है, कमजोर है शरीर,
मैं तो पुराने पोखर का ठहरा हुआ पानी हूँ
मेरे इस सीने में जगाओ प्रतिबिंब।

(दोनों अनुवाद : उत्पल बनर्जी)

सौ दिन को कैसे समझें?

■ सत्येंद्र रंजन

नरेंद्र मोदी सरकार के पहले 100 दिन का ठोस विश्लेषण करना हो, तो पहले 2014 के आम चुनाव में उभरे जनादेश के स्वरूप को समझना आवश्यक होगा। मतलब यह कि भारतीय जनता पार्टी को राष्ट्रीय स्तर पर जिन 31 प्रतिशत लोगों ने वोट दिए, वे कौन थे तथा उन्होंने किन अपेक्षाओं के साथ नरेंद्र मोदी को प्रधानमंत्री चुना?

चुनाव उपरांत सर्वेक्षणों और सामान्य विवेक से बनी समझ के मुताबिक इन मतदाताओं में पहला तबका उनका है, जो बहुसंख्यक वर्चस्व यानी हिंदुत्व की विचारधारा के लगभग स्थायी समर्थक बने हुए हैं। 8-10 प्रतिशत ऐसे मतदाता तो बाबरी मस्जिद ध्वंस आंदोलन के पहले भी थे। उस आंदोलन ने इनकी संख्या में खासा विस्तार किया। आज अनुमान लगाया जा सकता है कि इनकी संख्या 15 प्रतिशत तक है। नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार बनने के साथ ऐसे मतदाताओं का स्वाभाविक ध्रुवीकरण हो गया। इसकी वजह गुजरात के मुख्यमंत्री के बतौर मोदी की छवि थी।

मोदी की यह विशेषता उनके विरोधी भी मानते हैं कि वे मुखौटे के भीतर से सियासत नहीं करते। बल्कि जो मानते हैं, उसे कहते हैं और फिर वैसा ही आचरण करते हैं। एक दौर में लालकृष्ण आडवाणी की भी ऐसी छवि बनी थी। लेकिन बाद में अपनी राजनीतिक स्वीकार्यता बढ़ाने के चक्कर में उन्होंने खुद ही इस छवि को फीका कर लिया। इससे राजनीति में कट्टर हिंदुत्ववादी नेतृत्व का जो स्थान उन्होंने बनाया था, वह खाली हो गया। मोदी ने 2002 के गुजरात दंगों के बाद अपनी ऐसी छवि उभारी, जिससे इस जगह को भरने में वे कामयाब रहे। अतः उनके नाम से हिंदुत्ववादी मतदाताओं या जन समूहों का उत्साहित होना स्वाभाविक घटनाक्रम है। पिछले चुनाव में मोदी को प्रधानमंत्री बनाने की उद्देश्य भावना इन समूहों में प्रबलता से उभरी, जिसके परिणामस्वरूप ये ऐसे तमाम मतदाता मजबूती से लामबंद हुए और मतदान केंद्रों तक पहुंचे।

मोदी के समर्थन आधार का दूसरा बड़ा वर्ग वो है, जो 'अच्छे दिन' के प्रचार अभियान से इकट्ठा हुआ। हर वर्ग, हर तरह के पेशे के लोगों में बेहतर दिन आने का भरोसा मोदी के प्रचार अभियान ने प्रभावी ढंग से भरा। आने वाले समय में संचार के अध्ययनकर्ताओं के लिए यह शोध का विषय होगा कि इतने लोगों के मन में विकास के 'गुजरात मॉडल' का मिथक इतने दृढ़ ढंग से बैठाने में सफलता आखिर कैसे हासिल की गई। अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो कभी गुजरात नहीं गए। लेकिन उनकी जुबान पर यह बात चढ़ गई है कि मोदीजी ने गुजरात में यह या वह कर दिखाया है। राज्य में निवेश की वास्तविकता, सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में गुजरात का औसत प्रदर्शन और मानव विकास सूचकांकों पर उसकी निराशाजनक

स्थिति के आंकड़े मोदी विरोधी पार्टियों और सामाजिक संगठनों ने रखे, लेकिन इतने विस्तार और सूक्ष्मताओं में जाने की किसे फिक्र थी! बहरहाल, इस तबके को लेकर मोदी और भाजपा को चिंतित रहने की जरूरत है, क्योंकि इसके ज्यादातर हिस्सों में 'अच्छे दिन' का लंबे समय तक इंतजार करने का सब्र नहीं है।

मोदी के समर्थन आधार का तीसरा हिस्सा उद्योग जगत, उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग का है, जो यूपीए सरकार के सामाजिक एजेंडे और उसके कार्यकाल में आखिरी वर्षों में आर्थिक वृद्धि दर गिरने और रुपये की कीमत में गिरावट से खफा थे। इन तबकों ने यूपीए के सामाजिक एजेंडे को संसाधनों की बर्बादी माना और उसे राजकोषीय घाटे की वजह बताया गया। विभिन्न कारणों से विकास दर में आई गिरावट को पॉलिसी पैरालिसिस (नीतिगत निर्णय के लकवाग्रस्त होने) का परिणाम बताया गया। इन तबकों को यूपीए का विकल्प चाहिए था, जो उन्हें मोदी के रूप में दिखा। मोदी की सुपर ह्यूमन (अति मानवी) छवि गढ़ने में इन वर्गों ने अपने संसाधन और मेधा झोंक दिए।

इस क्रम में उन्होंने अपने लिए भी कुछ भ्रम बुने, जिनमें एक यह था कि सत्ता में आते ही मोदी 'समाजवादी जकड़नों' से उद्यमियों, निवेशकों और कुल मिलाकर अर्थव्यवस्था को मुक्ति दिला देंगे।

मोदी सरकार की आगे कैसी छवि रहेगी, यह इसी से तय होगा कि इन तीनों तबकों की कितनी उम्मीदें पूरी होती हैं। बाकी जन समूहों में बड़ा हिस्सा उन लोगों का है, जो स्वतंत्रता के बाद अस्तित्व में आया अथवा जो भारत विचार (आइडिया ऑफ इंडिया) की मुख्यधारा में रहा। ये मोदी को उसका प्रतिवाद (एंटी थीसीसी) मानते हैं। वे मोदी को अकेली शक्तिशाली के रूप में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की राष्ट्र की धारणा एवं उसकी सकल परियोजना के हिस्से के रूप में देखते हैं। उनके लिए यह मुद्दा नहीं है कि मोदी कैसे 'अच्छे दिन' लाएंगे। उनकी असली चिंता यह है कि मोदी के सत्ता में आने के साथ भारत का वह विचार हाशिये अथवा द्वितीयक स्थल पर चला गया है, जिसके प्रतीक पुरुष दादा भाई नौरोजी, महात्मा गांधी, रवींद्र नाथ टैगोर, अमर शहीद भगत सिंह, बाबा साहेब भीम राव अंबेडकर और जवाहर लाल नेहरू रहे हैं।

अनगिनत समाजवादी एवं साम्यवादी विचारकों एवं कार्यकर्ताओं ने भी भारत के इस विचार को सींचा। इसके विपरीत मोदी उस भारत के प्रतीक हैं, जिसकी धारा विनायक दामोदार सावरकर, गुरु गोलवरकर आदि के साथ शुरू होकर आगे बढ़ी। उपरोक्त दोनों धाराओं में कोई मिलन बिंदु नहीं हो सकता। अतः अपनी छवि और वोट समर्थन आधार के संदर्भ में मोदी अगर इन तबकों की फिक्र

ना करें, तो यह स्वाभाविक ही है।

दूसरी तरफ वे उन समूहों को लेकर निश्चिंत रह सकते हैं, जो हिंदुत्व का स्थायी वोट आधार हैं। उनके लिए मोदी सरकार की सफलता-विफलता के आकलन की कसौटी आर्थिक या विकास अथवा सामाजिक समावेशन के क्षेत्रों में उसका प्रदर्शन नहीं होगा। उनके लिए फिलहाल यही काफी है कि हिंदुत्व या संघ की धारा से आया व्यक्ति देश में राजकाज के सर्वोच्च पद पर है और वहां वह हिंदू प्रतीकों को स्थापित करने में कोई हिचक नहीं दिखा रहा है।

बहरहाल, 'अच्छे दिन' की उम्मीद में पिछले चुनाव में बढ़-चढ़ कर भाजपा के हक में मतदान करने वाले तबकों को लेकर मोदी निश्चिंत नहीं हो सकते। उद्योग जगत तथा उच्च और मध्यम वर्गों को लेकर भी उन्हें सचेत रहना चाहिए। दरअसल पहले 100 दिनों में मोदी सरकार के इरादों और क्षमता को लेकर अगर कहीं सबसे ज्यादा संदेह पैदा हुआ है, तो वह इन वर्गों का दायरा है। इन वर्गों की निम्नलिखित उम्मीदें टूटी हैं -

-मोदी की सरकार में टेक्नोक्रेट्स अधिक होंगे, जो वोट की चिंता किए बगैर फैसले लेंगे और उन पर अमल कराएंगे।

-मोदी सरकार बनते ही भूमि अधिग्रहण कानून, पर्यावरण संरक्षण कानून, वनाधिकार कानून आदि जैसे विकास की राह में कथित रूप से रोड़ा बने अधिनियमों को खत्म करने की पहल कर दी जाएगी।

-श्रम कानूनों में तुरंत आमूल बदलाव लाए जाएंगे, जिससे कंपनियों के लिए कर्मचारियों को मनचाहे ढंग से रखना और हटाना आसान हो जाएगा।

-मोदी सरकार एक झटके से निवेश और व्यापार की राह के तमाम बंधन हटा देगी।

-वह पूंजी के लिए ऐसा अनुकूल माहौल बना देगी, जैसा शायद दुनिया में कहीं नहीं है।

ऐसा नहीं है कि मोदी सरकार ने उपरोक्त कार्यों को ना करने का एलान किया हो। मगर पूंजी क्षेत्र की शिकायत यह है कि उसने सिर्फ इरादा दिखाया है, वास्तव में अब तक कुछ नहीं किया। फिलहाल यह क्षेत्र अगले बजट तक इंतजार करने को तैयार दिखता है। लेकिन अगर तब तक मोदी ने अपनी सरकार को 'न्यूनतम' और 'निवेशकों के लिए मौके को अधिकतम' नहीं किया, तो फिर इन तबकों की मायूसी सक्रिय रूप से जाहिर हो सकती है। (मोदी सरकार के बारे में इन तबकों की समझ को ब्रिटिश पत्रिका द इकॉनोमिस्ट के दिल्ली स्थित संवाददाता ऐडम रॉबर्ट्स ने द इंडियन एक्सप्रेस में लिखे अपने लेख में बखूबी व्यक्त किया है।

यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि इन तबकों के हाथ में मीडिया का मजबूत तंत्र है, जिसने पिछले चुनाव में यूपीए को खलनायक और मोदी को महानायक के रूप में पेश करने में सबसे अहम भूमिका निभाई थी। 'अच्छे दिन' चाहने वालों में उन तबकों का बड़ा हिस्सा है - जिनकी पहचान मोदी ने नव-मध्य वर्ग के रूप में की थी। उनके लिए असली मुद्दे महंगाई और रोजगार हैं। महंगाई के मुद्दे

पर भाजपा सरकार लगभग यू-टर्न ले चुकी है। यानी वो वही भाषा बोलने लगी है, जो यूपीए के मंत्री और नेता बोलते थे। ऐसे में आम आदमी का यह भरोसा टूटता जा रहा है कि उनके पास महंगाई पर काबू पाने का कोई विशेष फॉर्मूला है। बल्कि रेल किराया बढ़ा कर और पेट्रोलियम की कीमतों को अनियंत्रित छोड़ कर उसने यही संकेत दिया कि आम लोगों को तुरंत राहत देने की उसकी कोई इच्छा या तैयारी नहीं है। करोड़ों रोजगार सरकार कैसे पैदा करेगी, इसका भी कोई खाका उसने नहीं रखा है।

भ्रष्टाचार, काला धन और स्वच्छ सार्वजनिक छवि के मोर्चों पर भी मोदी सरकार के दौर में यू-टर्न ही ज्यादा देखने को मिले हैं। इससे अबकी बार सबसे अलग सरकार की आशाएं कमजोर पड़ी हैं। इस बिंदु पर यह उल्लेख जरूर किया जाना चाहिए कि नरेंद्र मोदी ने अपने चुनाव प्रचार अभियान के क्रम में लोगों के बीच अयथार्थ आशाएं जगाईं। इस बिंदु पर उनकी तुलना अरविंद केजरीवाल से हो सकती है। जैसे केजरीवाल ने दिल्ली में ऐसे वादे किए, जिन्हें वे पूरा नहीं कर सकते थे, वैसा ही राष्ट्रीय स्तर पर मोदी ने किया। दोनों ने यह ख्याल नहीं रखा कि ऐसे वादे काठ की हाड़ी होते हैं, जो एक बार ही आग पर चढ़ते हैं।

बहरहाल, यहां मोदी के साथ एक सुविधा जरूर है, जो केजरीवाल के साथ नहीं थी। उनके पीछे आरएसएस की ताकत है। मशहूर विद्वान और स्तंभकार क्रिस्टोफे जेफ्रेलॉ ने इसका बेहतर विश्लेषण किया है। उनके मुताबिक मोदी के लिए विकास का विमर्श उनका प्लान-ए है। इससे उन्होंने उन तबकों को जोड़ने में सफलता पाई, जो विकास की मृग-मरीचिका के बगैर उन्हें वोट नहीं देते। मोदी उन्हें जोड़े रखने के लिए कुछ करेंगे और सफल हुए तो उनका वोट आधार सुरक्षित बना रहेगा। लेकिन विकास के मोर्चे पर फेल हुए (जिसकी संभावना अधिक है, क्योंकि उनकी घोषणाएं दिखावटी अधिक और जमीन पर कम हैं, जैसाकि जन-धन योजना के मामले में जाहिर हुआ है, तो उस हाल के लिए उनके पास प्लान-बी है। यह हिंदुत्व का प्लान है। तब हिंदुत्व से जुड़े उग्र या उग्रतम मुद्दे उछाले जाएंगे।

उत्तर प्रदेश में लव जिहाद को सियासी मुद्दा बना कर इसका खासा सफल प्रयोग हो रहा है। ऐसे मुद्दे कैसा जुनून पैदा करते हैं, इतिहास इसका साक्षी रहा है। यह खबर भी अप्रासंगिक नहीं है कि भाजपा उत्तर प्रदेश के अगले महीने के उपचुनावों के लिए योगी आदित्यनाथ को अपना स्टार प्रचारक बनाने वाली है। अमित शाह पहले से मौजूद हैं। क्या इसमें किसी को शक है कि उत्तर प्रदेश में भाजपा ने पूरी तरह से (उग्र) हिंदुत्व के मुद्दे को अपना लिया है? यानी प्लान-ए और प्लान-बी पर साथ-साथ अमल जारी है। गौरतलब है कि हमेशा के लिए तो नहीं, लेकिन एक लंबी अवधि तक जज्बाती या सांप्रदायिक मुद्दों से चुनावी वैतरणी जरूर पार की जा सकती है। मोदी सरकार के 100 दिनों के अनुभव का संदेश यह है कि ऐसे मुद्दे देश के एजेंडे में खासे ऊपर आ गए हैं। क्या वे सबसे ऊपर जाएंगे, यह जानने के लिए अभी हमें कुछ और इंतजार करना होगा।

भारतीय खेती का संकटकाल जारी है

■ विकास संवाद

1. भूख की खेती की नीति

जिस वक्त पूरा देश क्रिकेट विश्वकप के सेमीफाइनल और फाइनल मैचों की खुमारी में गिर-गिर पड़ रहा था, देश के प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, नेता, मंत्री, अफसरान भी उसके नशे से सराबोर थे, मीडिया में (जिसे अब जन विरोधी और दृष्टिहीन मान लेना चाहिए) क्रिकेट का नशा बिखरा हुआ था; ठीक उन्हीं चार दिनों के दौरान भारत की सरकार ने समग्र प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति-सर्कुलर 1-2011 जारी की। जिसमें कृषि के क्षेत्र को लगभग पूरी तरह से 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए खोल दिया गया। अब कोई भी विदेशी कंपनी बीज, पौधों, फूलों, हार्टीकल्चर, फ्लोरीकल्चर, सब्जियों, चाय और मशरूम आदि के उत्पादन और विकास में सीधे दखल दे सकती है। पशुपालन, मछलीपालन भी अब इसमें शामिल है। सरकार उन्हें आयात-निर्यात शुल्कों और अन्य करों में रियायत भी देगी।

वे भारत की बची-खुची कृषि संपदा (बीज और उत्पादन तकनीकों) के साथ पूरा खिलवाड़ कर सकेंगे। इस नीति के बिना ही सवा दो लाख किसान आत्महत्या कर चुके हैं। अब यह दर बढ़ जाएगी क्योंकि अब नारियल, चाय, मशरूम, फल, फूल पैदा करने वालों के साथ-साथ पशुपालन और मछलीपालन करने वाले लोगों को उन बड़ी-बड़ी कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्धा करनी होगी। जिनके पास आर्थिक संसाधन तो हैं ही, सरकार का नीतिगत संरक्षण भी है। भारत में किसानों और उत्पादों के लगभग प्रत्यक्ष संबंध रहे हैं। यहां चार दशकों से कृषि उपज मंडी की व्यवस्था काम करती रही है पर पिछले 10 वर्षों में भारत में आईटीसी और कारगिल सरीखी कंपनियों ने मंडियों के समानान्तर अपनी व्यवस्था खड़ी कर दी और वे भारी मात्रा में किसानों से सीधी खरीद कर रही हैं। मोंटेक सिंह अहलूवालिया सरीखे अर्थशास्त्री मानते हैं कि इससे किसानों को बेहतर व्यवस्था और बेहतर दाम मिल रहे हैं। ये वे विचारक हैं जो यह मानते हैं कि यदि सरकारी ढांचा ठीक से काम न करे तो उसमें समानांतर निजी ढांचा खड़ा कर दो पर सरकारी ढांचा ठीक मत करो।

मध्य प्रदेश के रायसेन जिले में 4 अप्रैल को एक किसान की कृषि उपज मंडी में मृत्यु हो गयी। वह 8 दिन से अपनी फसल बिकने का इंतज़ार कर रहा था पर बारदाना

(बोरे) नहीं होने के कारण अनाज नहीं बिका और तनाव इतना बढ़ा कि उसकी जान चली गयी। आज मंडी में कृषि उत्पाद बेचने के बाद किसानों को 8 से 10 दिन तक भुगतान नहीं होता है इसलिए वे दूसरा विकल्प खोजते हैं, सवाल यह है कि क्या उनके लिए प्रभावी भुगतान की व्यवस्था खड़ी नहीं की जा सकती है। मंडी में उत्पाद बेचने के लिए किसानों से 6 तरह के दस्तावेज़ माँगे जा रहे हैं इससे उनका मन उचट रहा है, सवाल यह है कि क्या व्यवस्था को जटिल बनाना ज़रूरी है? ऐसे ही कारणों से मंडी व्यवस्था को कमज़ोर किया गया है और निजी कंपनियों के लिए माहौल बनाया गया है। आज मध्य प्रदेश में तीन कंपनियों ने 30 प्रतिशत बाज़ार पर कब्जा जमा लिया है और अब सरकार धीरे-धीरे मंडी व्यवस्था को खत्म करने की दिशा में बढ़ रही है। आज आईटीसी या कारगिल किसानों को थोड़ा सम्मान इसलिए देती है क्योंकि उन्हें पता है कि किसानों के पास कृषि उपज मंडी का विकल्प मौजूद है। जैसे ही यह विकल्प खत्म होगा या अप्रभावी होगा; जैसे ही इन कंपनियों के काटने वाले दांत नज़र आना शुरू हो जाएंगे।

हमने अपनी सरकार से यह सवाल कभी क्यों नहीं पूछा कि आखिर खेती में विदेशी निवेश की ज़रूरत क्यों है! सरकार ने पिछले 10 वर्षों में कर्ज़ और बीमा आधारित ऐसी तकनीकें अपनायी हैं, जिनसे किसान कंपनियों का बंधुआ बन गया है। किसान को संरक्षण देने का तर्क देकर कृषि बीमा योजना शुरू की गयी। पर यह एक सामूहिक बीमा योजना है, जिसके अब तक के क्रियान्वयन से पता चला है कि किसानों को 80 प्रतिशत नुकसान की तो भरपाई का प्रावधान ही इसमें नहीं है। आज देशभर में नहरों के बाहरी और भीतरी रिसाव के कारण लाखों हेक्टेयर की खेती प्रभावित होती है और वह ज़मीनें दलदल में बदल गयी हैं, पर सरकार की राहत और बीमा प्रावधानों में इन किसानों को मदद देने का कोई प्रावधान नहीं है। अब बैंक-बीमा कंपनियाँ और सरकार मिलकर किसान की अर्थी तैयार कर रहे हैं। खेती के लिए तो थोड़ी बहुत सब्सिडी बजट में बची है, वह अब सीधे उर्वरक, कीटनाशक, मशीन और ट्रैक्टर बनाने वाली कंपनियों को देने की पहल कर दी गयी है। इसके साथ ही

ठेका खेती (कांटेक्ट फार्मिंग) के तहत कंपनियां बड़े किसानों के समूह बना कर अपनी ज़रूरत के मुताबिक उत्पादन करवाएंगी, जैसे मूंगफली, लहसुन, टमाटर, आलू, कपास, सोयाबीन, गन्ना कुछ ऐसी फसलें हैं, जिनकी प्रोसेसिंग होती है। इनका उत्पादन ठेका खेती के तहत होगा। इस नीति से बाज़ार वाली नकद फसलों का उत्पादन बढ़ेगा और अनाज का उत्पादन कम होगा। सरकार इन कंपनियों को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से 25000 रुपए प्रति एकड़ के मान से फलों और फूलों के उत्पादन के लिए सीधी सब्सिडी किसानों को दे रही है, ताकि इनका उत्पादन तो बढ़े ही इनका व्यापार करने वाली कंपनियों को किसान सस्ते दाम पर अपने उत्पाद बेचें। एक तरह से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लाभ को रियायत दी जा रही है। पहली हरित क्रांति के बाद भारत में खाद्य सुरक्षा का अर्थ केवल गेहूँ और चावल से जोड़ दिया गया। देश में पैदा होने वाले 370 तरह के प्रचलित अनाजों की हरसंभव उपेक्षा की गयी, जिससे उनका उत्पादन और उपलब्धता लगभग शून्य होती गयी है। इससे खेती की तकनीकें और फसल चक्र भी टूटा है और पोषण की असुरक्षा भी बढ़ी है। आज सरकार भी सरकारी भंडारण की नीति के तहत केवल गेहूँ और चावल की खरीदी करती है। ज्वार, बाजरा, कोदो-कुटकी, रागी, चना, दलहन की कोई खरीदी नहीं होती है। इससे पूरे देश में खाद्य सुरक्षा और खाद्य संस्कृति दोनों को ही गहरा नुकसान पहुंचा है। एक तरफ तो सरकार सूखे में खेती के साधन और तकनीकें ढूँढ रही है, तो वहीं दूसरी ओर ऐसी फसलों और बीजों को सरकारी कार्यक्रमों के तहत बढ़ावा दिया जा रहा है, जिनमें देशी बीजों की तुलना में कई गुना ज़्यादा पानी की ज़रूरत होती है और बिना रसायनों के उत्पादन को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है। पर ऐसी खेती ही औद्योगिक घरानों के हित में है, उन्हें इससे लाभ होता है। सो सरकार ने खेती के क्षेत्र को विदेशी निवेश के लिए अब पूरा खोल दिया है, यानी जो कंपनी जैसा चाहेगी वैसा कर सकेगी, सरकार को बस कुछ आंकड़े चाहिए होंगे।

100 प्रतिशत विदेशी निवेश का मतलब यह है कि खेती को आधुनिक और कम लागत का बनाने के नाम पर मशीनी खेती को और बढ़ावा दिया जाएगा। पहले जब हार्वेस्टर आया तो पता चला कि उससे पुआल और चारा नहीं निकल पाता है, तो अब एक नई मशीन बना दी गयी जो हार्वेस्टर से बचे हुए टूठों को काटने का काम करेगी। नई खेती की व्यवस्था में पशुधन और समाज के अपने ज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं है। जिस तरह से खेतों में मशीनों का उपयोग बढ़ा है उससे चारे का संकट पैदा हुआ है। अब तक जो चारा गाँव में बिना लागत उपलब्ध हो जाता था,

अब एक ट्राली के लिए 2500 रुपये चुकाने की ज़रूरत पड़ रही है। चारे की उपलब्धता कम होने से किसानों और किसानों से जुड़े काम करने वाले समुदायों की आजीविका पर गहरा संकट छाया है। पिछले चार वर्षों में भारत में दूध की किल्लत ज़बरदस्त तरीके से बढ़ी है और उसका परिणाम हुआ है दूध की कीमतों में 300 प्रतिशत की बढ़ोतरी। पशुधन कृषि उत्पादन के क्षेत्र में कई कड़ियों को जोड़ने का काम करता है। इससे प्राकृतिक खाद मिलती है और कीटनाशक भी बनते हैं। दूध भी मिलता है और पर्यावरण को संरक्षण भी मिलता है। इसके सांस्कृतिक महत्व भी हैं, पर पूंजीवादी सोच के प्रभाव ने सब कुछ मिटा सा दिया है।

2. जैविक खेती का अर्थशास्त्र

हम यह मानते रहे हैं कि जैविक खेती और इसके उत्पाद सीधे खेत और किसानों से हमारी रसोई में आएंगे परंतु अब यह सच नहीं है। जैसे-जैसे यह तर्क स्थापित हुआ है कि हमें यानी उपभोक्ता को साफ और रसायन मुक्त भोजन चाहिए; वैसे-वैसे देश और दुनिया में बड़ी और भीमकाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने जैविक खेती और जैविक उत्पादों के व्यापार को अपने कब्जे में लेना शुरू कर दिया। भारत में पारंपरिक रूप से जैविक उत्पाद सामान्यतः सीधे खेत से लोगों तक पहुंचे हैं। हमारे यहां हाईब्रिड और देशी टमाटर या लोकल लौकी जैसे शब्दों के साथ ये उत्पाद बाज़ार में आते रहे हैं पर अब बड़ी कंपनियों ने इस संभावित बाज़ार पर अपना नियंत्रण जमाना शुरू कर दिया है। तर्क यह दिया जा रहा है कि जितने बड़े पैमाने पर आधुनिक खेती में रसायनों का उपयोग किया जा रहा है; उसके खतरे को देखते हुए यह सवाल महत्वपूर्ण नहीं है कि उसका मालिकाना हक किसके पास है। पर इसके दूसरी तरफ हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि आज की सबसे बड़ी ज़रूरत यह तय करने की है कि अनाज, खाद्यान्न और भोजन के उत्पादन का तंत्र और व्यवस्था विकेंद्रीकृत, जनोन्मुखी और पारदर्शी ही होना चाहिए। ठंडे पेयों में कीटनाशकों की खतरनाक स्तर तक मौजूदगी, फिर डिब्बाबंद खाद्य पदार्थों में अमान्य रसायनों का उपयोग और खेतों में एंडोसल्फान के छिड़काव के मामलों में बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भूमिका ने यह सिद्ध किया है कि उनके उत्पादों पर विश्वास नहीं किया जा सकता है।

ये महाकाय आर्थिक रूप से संपन्न कंपनियां भी जानती हैं कि जैविक उत्पादों का बाज़ार अब तेज़ी से बढ़ रहा है। रणनीतिक रूप से इन कंपनियों ने वर्ष 1997 से 2007 के बीच दुनिया भर में 363 छोटी और स्थानीय उत्पादक इकाइयों का अधिग्रहण किया। इनमें से ज़्यादातर ने अधिग्रहण के बाद भी उन स्थानीय ब्रांडों के नाम से ही

व्यापार किया ताकि उनकी बदनामी का असर इस नये व्यापार पर न पड़े। कोकाकोला ने आनेस्ट-टी का अधिग्रहण किया। मुईर ग्लेन और कास्केडियन फार्म को स्माल पेनेट फूड्स के नाम से चलाया जा रहा है जो वास्तव में जनरल मिल्स की कंपनी है। आनेस्ट टी पर कोकाकोला के नियंत्रण की बात जब लोगों को पता चली तो उसकी दुनियाभर में व्यापक प्रतिक्रिया हुई। सच यह है कि आज बाज़ार में अनाज और भोजन से लाभ कमाने के लिए उसे किसी भी स्तर तक ज़हरीला बना देने को तत्पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर आम समाज विश्वास नहीं करता है। वह यह नहीं मान पाता है कि ये कंपनियां वास्तव में सच्चे जैविक उत्पाद उन्हें उपलब्ध करवाएंगे। आर्गेनिक ट्रेड एसोसिएशन ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि वर्ष 2009 में ही जैविक उत्पादों का बड़ा बाज़ार 11.40 अरब रुपये यानी 24.8 बिलियन डॉलर का हो चुका था। यानी जितनी ज़्यादा संभावना उतना बड़ा भोजन पर आर्थिक उपनिवेशवादी खतरा।

वर्ष 2002 से भारत में जैव संशोधित बीजों (बीटी और जीएम) के प्रयोग और उपयोग की शुरुआत हुई। मोनसेंटो जैसी एक बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनी इन बीजों को इस दावे के साथ भारत लाई थी कि बीटी कपास पर बोल्वार्म या कहें कि कपास को खाने वाला एक कीड़ा नहीं लगेगा। इससे कीटनाशकों का खर्च कम होगा। चूंकि इससे उत्पादन बढ़ेगा, इसलिए इन बीजों की कीमत सामान्य देशी बीजों की तुलना में 7 से 8 गुना ज़्यादा रखी गयी और मोनसेंटो ने किसानों से खूब कमाई की। 3 साल बाद ही यह स्थापित हो गया कि बीटी बीज पर भी कीट लगता है और उसमें पहले की तुलना में ज़्यादा रासायनिक कीटनाशकों-उर्वरकों का उपयोग किसान को करना पड़ रहा है। लागत बढ़ी और किसान पर कर्ज, दामों के उतार-चढ़ाव के बीच भारत की सरकार ने उन देशों से सस्ती दर के कपास के आयात पर शुल्क कम रखा जहां खेती पर बहुत सब्सिडी मिलती है। तर्क यह था कि भारत में कपास का उपयोग करने वाले उद्योगों को सस्ता कपास मिल सके। सरकार ने भारत में तो कृषि पर रियायत कम कर दी, बिजली, उर्वरक, कीटनाशक महंगे हो गये और किसान बाज़ार में आयतित कपास से मार खा गया। विदर्भ में किसानों ने इसीलिए आत्महत्या की है। अब तक बहुराष्ट्रीय कंपनियों को नए और तथाकथित उन्नत बीजों या कृषि तकनीकों को व्यापारिक उपयोग में लाने या उनके परीक्षण करने के लिए हर एक मामले में अनुमति लेनी होती थी, पर अब यह एक खुला क्षेत्र हो गया है। हमें यह याद रखना होगा कि संकट को हमने खुद आमंत्रित किया है और अपने आप को बर्बाद करने के लिए हम उसे पुरस्कृत भी कर रहे हैं। हमने यह सवाल नहीं पूछा

कि भारत में 42 कृषि विश्वविद्यालय और 193 कृषि महाविद्यालय हैं, उन विश्वविद्यालयों ने भारतीय संदर्भ में खेती के विकास के लिए ज़िम्मेदार भूमिका क्यों नहीं निभाई? ये क्यों ईमानदार तरीके से शोध और परीक्षणों का काम नहीं कर सकते थे, क्यों ये बीजों को उन्नत करने की तकनीकों पर काम नहीं करते! यही कारण है जिनके चलते रसायनमुक्त खेती भारत से लुप्तप्राय होती गयी। ऐसे में हमें क्यों यह ज़रूरत पड़ रही है कि विदेशी कंपनियां, जिनके लाभ के लिए अपने निहित स्वार्थ हैं और जिनके बारे में यह स्थापित है कि उनकी रुचि किसानों के हितों में नहीं बल्कि आर्थिक लाभ में है। ये कंपनियां बार-बार ऐसे बीज विकसित करती हैं, जिनसे होने वाली पैदावार से अगली बुआई या फसल के लिए उत्पादक बीज नहीं मिल सकते हैं। मतलब कि हर फसल पर किसान को एक खास कंपनी के बीज खरीदने पड़ेंगे। उन्होंने ऐसी व्यवस्था भी विकसित कर ली है कि एक खास कंपनी के बीजों पर उसके द्वारा बनाए जाने वाले कीटनाशक और उर्वरक ही प्रभावी होंगे। मतलब साफ है कि किसान पूरी तरह से एक कंपनी का बंधुआ होगा। और नई नीति में सरकार ने इस बंधुआपन की पूरी तैयारी कर दी है। सरकार ईमानदार नहीं है इसीलिए तो उसने देश में कृषि शिक्षा को बढ़ावा नहीं दिया, यही कारण है कि वह देश के किसानों के विज्ञान से ज़्यादा कंपनियों के लाभ को ज़्यादा महत्वपूर्ण मानती है, इसीलिए तो वह अनाज व्यापार के लिए उगाना चाहती है स्वावलंबन और खाद्य सुरक्षा के लिए नहीं। इसीलिए तो वह देश में कुपोषण और भुखमरी होने के बावजूद देश का अनाज निर्यात करती है या समुद्र में डुबो देती है। इसलिए तो वह यह जानते हुए कि 10 लाख टन अनाज गोदामों में सड़ रहा है पर देश के लोगों में नहीं बांटती है। सरकार ईमानदार नहीं है।

हम बुनियादी रूप से यह मानते हैं कि भारत में चूंकि 67 प्रतिशत जनसंख्या खेती पर निर्भर है और अब बड़े पैमाने पर किसान भी खेती के स्थायी विकास के लिए रासायनिक खेती को छोड़कर जैविक खेती को अपना रहा है; ऐसी स्थिति में इस क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दखल को खत्म करने की ज़रूरत है। आंध्र प्रदेश के 23 जिलों के किसान रसायन मुक्त खेती कर रहे हैं पर अब तक देश में इसकी कोई ऐसी नीति नहीं है जो किसानों को बड़े दानवों से सुरक्षित करने की व्यवस्था देती हो। दूसरा बिंदु यह महत्वपूर्ण है कि जैविक खेती के लिए उत्पादन के एक पूरे तंत्र की ज़रूरत होती है। जिसमें विविध किस्मों के अनाज का उत्पादन, पशुधन का संरक्षण, स्थानीय उर्वरकों और कीटनाशकों का उत्पादन शामिल है। इस बात में शक है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस तरह की व्यवस्था को खड़ा करने

में कोई रुचि दिखाएंगी। और पूरी आशंका है कि इसके बजाय वे जैव संशोधित बीजों का उपयोग करेंगी और किसी न किसी रूप में रसायनों का उपयोग करती रहेंगी। यानी जैविक खेती को नये खतरों का सामना करना पड़ेगा।

3. अनाज क्या शोरूम में मिलेगा!

खाद्य सुरक्षा की व्यवस्था में जितना उत्पादन का तंत्र महत्वपूर्ण है; उतना ही महत्वपूर्ण है बाज़ार का तंत्र। भारत में 2.9 करोड़ लोग भोजन और भोजन से संबंधित सामग्री का व्यापार करते हैं। वे केवल लाभ के लिए व्यापार नहीं करते हैं बल्कि खाद्य सुरक्षा की परिभाषा के महत्वपूर्ण हिस्से “पहुंच” को सुनिश्चित करने में उनकी केंद्रीय भूमिका रही है। अब इस “बाज़ार” पर प्रमुख भोजन व्यापार कंपनियों अपना मिला-जुला एकाधिकार चाहती हैं। वालमार्ट, रिलायंस, भारती, ग्लेक्सो स्मिथ कंज्यूमर हेल्थ केयर, नेस्ले, केविनकरे, फील्ड फ्रेश फूड, डेलमोंटे, बहलर इंडिया, पेप्सीको और कोका कोला शामिल है। बाज़ार विश्लेषण करने वाली एक कंपनी आर.एन.सी.ओ.एस. की ताज़ा रिपोर्ट के मुताबिक भोजन का बाज़ार भारत में 7.5 प्रतिशत की दर से हर साल बढ़ रहा है और वर्ष 2013 में यह 330 बिलियन डॉलर के बराबर होगा। एपीडा (एग्रीकल्चरल एंड प्रोसेस्ड फूड प्रोडक्ट्स एक्सपोर्ट डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन अथॉरिटी) के मुताबिक वर्ष 2014 में भारत से 22 बिलियन डॉलर के कृषि उत्पाद निर्यात हो सकते हैं जबकि वर्ष 2009-10 में फूलों, फलों, सब्जियों, पशु उत्पाद प्रोसेस्ड फूड और बारीक अनाज का निर्यात 7347.07 मिलियन डॉलर के बराबर हुआ। अब सरकार खाद्य प्रसंस्करण (प्रोसेसिंग) के जरिये दूसरी हरित क्रांति लाने की प्रक्रिया में है; जिस पर डेढ़ लाख करोड़ रुपये खर्च किये जाएंगे। इस हरित क्रांति के केंद्र में खेत और किसान नहीं बल्कि प्राकृतिक संसाधनों, उत्पादन तंत्र पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को नियंत्रण सौंपना है।

भारत के खाद्य प्रसंस्करण मंत्री सुबोधकांत सहाय के मुताबिक भारत सरकार इसमें अगले 5 साल में 21.9 बिलियन डॉलर का निवेश करेगी। इस निवेश का मकसद होगा बहुराष्ट्रीय कंपनियों और वित्तीय संस्थानों के लिए अनुकूल माहौल तैयार करना। बाज़ार के विश्लेषकों का मानना है कि खाद्य प्रसंस्करण के क्षेत्र का हिस्सा 6 प्रतिशत से 20 प्रतिशत होने की पूरी संभावनाएं हैं और दुनिया के प्रसंस्करण खाद्यान्न बाज़ार में भारत की हिस्सेदारी 1.5 से बढ़कर 3 प्रतिशत हो जाएगी। जहां तक इसमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का मसला है; यह बढ़कर 264.4 मिलियन डॉलर का हो गया है। केवल 8 कंपनियां (केविनकरे, नेस्ले, ग्लेक्सो, यम! रेस्टोरेंट्स इंडिया, फील फ्रेश फूड, बहलर इंडिया, पेप्सी और कोका कोला) ही अगले दो सालों में 1200 मिलियन

डॉलर का निवेश खाने-पीने का सामान बनाने वाले उद्योग में करने वाली हैं। इन्हें तमाम रियायतों के साथ ही पहले 5 वर्षों तक उनके पूरे फायदे पर 100 फीसदी आयकर में छूट और फिर अगले पांच वर्षों तक 25 फीसदी छूट मिलेगी। एक्साइज़ ड्यूटी आधी कर दी गयी है यानी सरकार के बजट से उनका फायदा तय किया गया है; पर किसान के लिए सारी छूटें खत्म हैं।

ये कुछ बड़े-बड़े आंकड़े हैं; कुल मिलाकर बमनुमा; जो आप पर गिरा दिये गये हैं। परंतु इन आंकड़ों में विध्वंस भी छिपा हुआ है। पिछले 20 वर्षों में भारत के योजना आयोग और आर्थिक सलाहकारों ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के एजेंट की भूमिका निभाकर यह तय कर लिया है कि हमें कृषि का ऐसा औद्योगिकरण करना है जो कंपनियों के हाथ में हो। इसलिए वर्ष 2005 में उन्होंने कंपनियों को किसानों से सीधे अनाज खरीदने की अनुमति दे दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपनी ही ज़रूरतें पूरी करने के लिए भारत सरकार को दो गुना दामों पर 53 लाख टन अनाज ऑस्ट्रेलिया, कनाडा और यूक्रेन से खरीदना पड़ा। पिछले 4 वर्षों में अनाज की खुले बाज़ार में कीमतें 70 से 120 प्रतिशत तक बढ़ीं पर सरकार ने किसानों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य में महत 20 प्रतिशत की बढ़ोतरी की। यह जानते हुए कि बढ़ी हुई कीमतों का फायदा दलाल और ट्रेडर उठा रहे हैं उन्हें नियंत्रित करने के लिए कोई नीति नहीं बनायी गयी। सरकार को अनाज की कम खरीद करनी पड़े इसलिए गरीबी की रेखा को छोटा किया गया ताकि सार्वजनिक वितरण प्रणाली का दायरा और छोटा हो जाए। यह इसलिए भी किया गया ताकि कंपनियों को किसानों से मनमानी कीमत पर अनाज खरीदने का मौका मिल सके। इस अनाज का उपयोग निर्यात करने में किया जा रहा है और प्रसंस्करण के लिए भी। गेहू से रोटी नहीं बल्कि डबलरोटी, नूडल्स, बिस्किट और डिब्बाबंद खाद्य पदार्थ बनाने के लिए उपयोग किया जाना प्राथमिक बना दिया गया है। लगभग 10 लाख हेक्टेयर सबसे उपजाऊ ज़मीन पर फूल और ऐसे फल उगाये जा रहे हैं; जिनसे रस, शराब और विलासिता के पेय बनते हैं।

मध्य प्रदेश में तीन कंपनियां अघोषित रूप से अनुबंध की खेती करके चिप्स के लिए आलू और चटनी के लिए टमाटर-हरी मिर्च की खेती करवा रही हैं। इससे खेती की विविधता खत्म हुई है। झाबुआ में तो इसे ऐसे प्रोत्साहित किया गया कि वहां टमाटर के लिए एक एकड़ खेत में 600 से 800 किलो रासायनिक ऊर्वरकों का प्रयोग होने लगा और अब मिट्टी की उर्वरता लगभग पूरी तरह से खत्म हो चुकी है। सब्सिडी कम करने की नीति के तहत अब यूरिया, डीएपी पर दी जाने वाली रियायत भी खत्म हो चुकी है, डीज़ल के दाम बढ़ते रहे हैं और बिजली की कीमतें

पिछले पांच वर्षों में 190 फीसदी बढ़ाई जा चुकी हैं। इससे गेंहू की उत्पादन की लागत अब लगभग 1650 रुपये पर पहुंच गयी है परंतु भारत सरकार ने इस वर्ष न्यूनतम समर्थन मूल्य तय किया है 1120 रुपये। किसान के लिए दालों का समर्थन मूल्य है 32 रुपये पर बाज़ार में दालों की कीमत है 60 से 90 रुपये। क्या सरकार खुद किसानों की आत्महत्या का कारण नहीं है!!

हमारा विश्लेषण यह बताता है कि खेती की व्यवस्था के हर हिस्से (संसाधनों और उत्पादन तंत्र, मार्केटिंग और आपूर्ति, व्यवहार और उपभोग के तौर-तरीकों पर नियंत्रण) में अब कंपनियों का दखल हो चुका है। अब तक वे प्रसंस्करण या डिब्बा बंद सामग्री बनाने में शामिल थे पर अब कच्चे माल के उत्पादन पर उनका नियंत्रण है जिससे न तो किसान यह तय कर पा रहा है कि उसे क्या पैदा करना है न ही उसे यह स्पष्ट हो रहा है कि सरकार उसे क्या संरक्षण देगी!! यह जानना उल्लेखनीय है कि कारफोर, वालमार्ट, रिलायंस, भारती, फ्यूचर वेल्थ रिटेल, स्पार्ट हायपर मार्केट्स जैसे समूह 510 सुपर मार्केट और मॉल्स की श्रृंखला खड़ी करने वाले हैं। दिल्ली, बैंगलूर, कलकत्ता, मुम्बई आदि में रहने के लिए कुछ वर्गमीटर ज़मीन नहीं मिल पा रही है परंतु नाइट फ्रेंक इंडिया की रिपोर्ट इंडिया ऑर्गेनाइज़्ड रिटेल मार्केट 2010 के मुताबिक मुम्बई में 2010 से 2012 के दौरान 5.5 करोड़ वर्ग फीट स्थान फुटकर व्यापार के लिए कंपनियों के लिए उपलब्ध होगा; कहां से आएगी यह जगह? जी हां, झुगियों और फुटपाथ पर काम करने वालों को विस्थापित करके।

इन बाज़ारों से फुटकर बाज़ार को संचालित करने वालों के सामने जीवन का संकट खड़ा हो गया है क्योंकि अब सब कुछ वहीं मिलता है वह भी डिब्बाबंद या तथाकथित गुणवत्ता के साथ। इस व्यवस्था के ज़रिये बड़े समूह अब यह तय करने लगे हैं कि उपभोक्ता क्या खाएंगे और क्या पियेंगे। इस सुनियोजित व्यापारी षड़यंत्र से किसान और समाज दोनों को लाचारी महसूस हो रही है। किसानों पर इसका असर दिखने लगा है इसलिए 48 प्रतिशत किसान यह कहते हैं कि दूसरा विकल्प मिलने पर फौरन खेती छोड़ देंगे क्योंकि अब न तो वे कमा पा रहे हैं न ही भविष्य में संभावनाएं देख पा रहे हैं और सरकार भी दुश्मन सी ही लगती है। आखिर में सिर्फ इतनी सी बात कहना चाहता हूं कि सरकार की नीति, किसानों की आत्महत्या और 76 फीसदी लोगों के भूखे रहने की स्थिति के बीच बिल्कुल सीधे संबंध हैं।

4. सरकार की वृद्धिदर माँगती है खेती की बलि

हमारी सरकार जीडीपी यानी सकल घरेलू उत्पाद में 8 और 9

और 10 प्रतिशत की वृद्धि की तान पर अपना राग अलापती रहती है। उनके आलाप का आनंद यह है कि यह वृद्धि हासिल करना बहुत आसान और खतरनाक एक साथ है। बहुत आसान इसलिए कि जो कुछ भी खरीदा और बेचा जाता है उसमें धन का लेन-देन होता है, सरकार के खज़ाने में भी पैसा आता है और माना जाता है कि लोगों की भी उन्नति हुई। जिससे पैसा नहीं आता है वह जीडीपी के लिए बेकार है। बात को थोड़ा और साफ करते हैं। जंगल, ज़मीन, पानी, खनिज पदार्थ, पहाड़ यह सब कुछ हमारे संसाधन हैं। जब तक जंगल बचा हुआ है, जीडीपी नहीं बढ़ती है। जब उसे सरकार या कंपनी काटती है, तब धन आता है। जब पानी कल-कल करके बहता रहता है, उसका सरकार के लिए कोई मूल्य नहीं है, पर जब कानून बनाकर उसके उपयोग पर लोगों का हक सीमित कर दिया जाता है तो संकट बढ़ता है और फिर उस पर कंपनी को कब्ज़ा देकर भारी कीमत वसूली जाने लगती है तो जीडीपी बढ़ती है। यदि लोग स्वस्थ रहते हैं, तो मॉटेक और मनमोहन सिंह वाला विकास नहीं होता है, जब लोग बीमार पड़ते हैं तब जीडीपी बढ़ती है। अब यदि ये वैसा वाला विकास चाहते हैं और उसके लिए काम कर रहे हैं, तो इसका मतलब है कि न तो जंगल बचेगा, न नदी और न पहाड़, न खनिज, न ज़मीन और न स्वास्थ्य। पिछले 10 वर्षों में सरकार ने 10 लाख हेक्टेयर ज़मीन बेची है, अपनी यानी सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों में बहुत सी हिस्सेदारी बेची है, रेलवे ने अपनी ज़मीनें बेची हैं, जो जंगल समुदाय की पारंपरिक संपत्ति है, उसके पेड़ और उसका खनिज बेचा है, कोयले, बाक्सआईट, लोहा, पत्थर और संगमरमर के लिए ज़मीनों के खनन की अनुमति दी है जिससे लाखों हेक्टेयर ज़मीन लंबे समय के लिए बेकार हो गयी। तपेदिक और सिलिकोसिस जैसी बीमारी वहां पनपी और हज़ारों की जान लील ली। तब कहीं जाकर हमें 9 प्रतिशत की वृद्धि दर हासिल हो पायी है। इसी दौरान खेती में यह दर नकारात्मक हो गयी, जिसमें सरकार को कोई समस्या नज़र नहीं आती। वह तो कह ही रहे हैं, लोगों को गाँव और खेती से बाहर निकालकर इस क्षेत्र के योगदान को छः प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा है और खेती से जितना योगदान होने भी वाला है, उसमें बड़ी-बड़ी कंपनियों को आने के लिए दरवाज़े खोल दिये गए हैं। और सरकार मानती है कि इससे खेती और किसानों के हालात सुधर जाएंगे। खेती को जो नुकसान नीतिगत और सुनियोजित तरीके से पहुंचाया गया है वह बहुत दूर तक अपने प्रभाव दिखाएगा। जरा इन जानकारियों पर नज़र डालें -

- चेन्नई की कंपनी केविनकरे 109.50 मिलियन डॉलर का निवेश शीतलपेय और निर्माण के लिए कर रही है।

- नेस्ले शोध और विकास (खाद्य सामग्री) के लिए मानेसर में 50.49 मिलियन डॉलर का निवेश कर रही है।

- दूध के उत्पादों के निर्माण के लिए ग्लेक्सो स्मिथ क्लिन 64.87 मिलियन डॉलर का निवेश कर रही है। उल्लेखनीय है कि यही कंपनी हॉर्लिक्स बनाती है।

- यम! रेस्टोरेंट्स इंडिया (जो पिज्जाहट, केएफसी, टेकोबेल जैसे रेस्टोरेंट्स की श्रृंखला चलाती है), वह 100 मिलियन डॉलर का निवेश करके 2015 तक 1000 रेस्टोरेंट्स चालू करने वाली है।

- डेल मोंटे और भारती इंटरप्राइसेस के साथ मिलकर फील फ्रेश फूड भी शोध और विकास के लिए होसुर, तमिलनाडु में 25.93 मिलियन डॉलर का निवेश कर रहे हैं।

- खेती के उपकरणों वाली कंपनी बृहलेर इंडिया 22.55 मिलियन डॉलर की लागत से एक निर्माण इकाई लगा रही है, जिसका टर्नओवर 2014 में 225.49 मिलियन डॉलर होगा। इतना भयंकर लाभ कहां से और किनसे कमाया जाने वाला है!

- पेप्सी अगले दो सालों में खाने-पीने के व्यापार पर 500 मिलियन डॉलर का निवेश करने वाली है।

- जबकि कोका कोला कर्नाटक में 120.75 मिलियन डॉलर की लागत से एक बाटलिंग इकाई लगा रही है।

कृषि व्यवस्था में कॉरपोरेट निवेश के ये केवल 8 उदाहरण हैं जो 971.54 मिलियन डॉलर यानी 45.72 अरब रुपये का निवेश अगले दो सालों में करने वाले हैं। यह निवेश किसानों, फुटकर व्यापारियों और गाँव की अर्थव्यवस्था को और गहरा नुकसान पहुंचाने का काम करेगा और अगर सरकार की बात की जाए तो सुनिये। सरकार इन कंपनियों की मदद करने के लिए अनुबंध की खेती को बढ़ावा देने और इस क्षेत्र (खाद्य प्रसंस्करण) को करमुक्त क्षेत्र बना चुकी है। सरकार की 30 बड़े फूड पार्क बनाने की योजना है, ये एक तरह के विशेष खाद्य प्रक्षेत्र होंगे। अब हमारे देश की जीडीपी और बढ़ने वाली है!

जो कंपनियां खाद्य प्रसंस्करण के क्षेत्र में निवेश कर रही हैं, उन्हें शुरू के 5 सालों तक आयकर 100 प्रतिशत और फिर अगले 5 सालों तक 25 प्रतिशत छूट का प्रावधान किया जा चुका है। डिब्बाबंद खाने के सामान पर एक्साइज ड्यूटी 16 प्रतिशत से घटाकर 8 प्रतिशत कर दी गयी है। अर्नेस्ट एंड यंग की रिपोर्ट फ्लेवर्स ऑफ इनक्रेडिबल इंडिया के मुताबिक भारत में खाने का बाज़ार 2015 में 181 बिलियन डॉलर और वर्ष 2020 में 318 बिलियन डॉलर होगा, जिसका ज्यादातर हिस्सा संगठित क्षेत्र यानी बड़ी कंपनियों के नियंत्रण में होगा। ज़रा यह भी जानें कि पिछले 15 वर्षों

में भारत के शहरों-गाँव में नमकीन बनाने वाली 13 हज़ार छोटी इकाइयां बंद हो चुकी हैं।

1990 के दशक में जब आर्थिक उदारीकरण की नीतियां लागू की गयी थीं तब खेती के लिए लगभग 220 हज़ार करोड़ रुपये की सरकारी रियायत होती थी। पिछले 20 वर्षों का बदलाव यह है कि वर्ष 2011 में भारत सरकार ने किसानों के लिए सब्सिडी 100 हज़ार करोड़ रुपये से कम कर दी और इस वर्ष किसानों के लिए 375 हज़ार करोड़ रुपये कर्ज़ देने का प्रावधान किया है। सरकार यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि किसानों के लिए कृषि सब्सिडी उपभोक्ताओं के लिए भी ज़रूरी है। इसी से किसानों को खेती करने का प्रोत्साहन मिलेगा, उत्पादन की लागत कम रहेगी और उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर मूलभूत ज़रूरतों के कृषि उत्पाद मिल सकेंगे। इसका असर हम साफ देख सकते हैं, खेती की लागत बढ़ाना, किसानों पर कर्ज़ बढ़ाना और अब बेकाबू महँगाई। उत्पादन करने वाला आत्महत्या कर रहा है और उपभोक्ता भुखमरी का शिकार है। ऐसे में हमारे वाणिज्यिक मंत्री कमलनाथ ने कहा कि अनाज इसलिए कम पड़ रहा है क्योंकि भारत के लोग ज़्यादा खाने लगे हैं। कृषि मंत्री, जिनकी रूचि अपने काम से ज़्यादा क्रिकेट के खेल में है (शरद पवार) ने कहा महँगाई कम करना हमारी ज़िम्मेदारी नहीं है। वित्तमंत्री प्रणव मुखर्जी कहते हैं कि महँगाई कम करना हमारे हाथ में नहीं है और प्रधानमंत्री ने कहा कि सर्वोच्च न्यायालय हमें सरकारी गोदामों में भरे करोड़ों टन अनाज को गरीबों में बांटने को न कहे, यह एक नीतिगत मसला है। दूसरे शब्दों में इससे व्यापार कर रही कंपनियों को नुकसान होगा और सरकार यह नहीं चाहती है।

भोजन और उससे जुड़े उत्पादों के बाज़ार पर एकाधिकार करने के मकसद से शोध-प्रशिक्षण, उत्पादन और विपणन के साथ-साथ बहुराष्ट्रीय कंपनियों हिंदुस्तान यूनीलीवर, पेप्सिको, कोका कोला, आईटीसी, नेस्ले, ब्रिटानिया आदि के अधिकारियों-कर्मचारियों को राष्ट्रीय खाद्य नियामक इकाई (भारतीय खाद्य सुरक्षा और मानक प्राधिकारी) के 8 वैज्ञानिक पैनल पर नियुक्त कर दिया गया है। यही पैनल खाद्य पदार्थों और भोजन में पोषण, कीटनाशक अवयव, विज्ञापनों में किये जाने वाले दावों पर नज़र रखने और नियम बनाने की ज़िम्मेदारी निभाता है। अब आप सोचिये कि क्या भारत सरकार के इतने महत्वपूर्ण और संवेदनशील पैनल केवल कंपनियों के हितों की रक्षा करने का काम नहीं करेंगे। और सवाल यह कि सरकार बाज़ार की इन ताकतों को नियमन और निगरानी की अधिकारिक ज़िम्मेदारी कैसे दे देती है?

साभार : The Journalist

विभाजन की यादें

■ गोपाल राम अरोड़ा

(श्री गोपाल राम अरोड़ा, हिसार, हरियाणा में रहते हैं। सरकारी नौकरी से रिटायर हुए कई बरस बीत गए। पत्नी और बच्चों के साथ रहते हैं। हिसार में एक खामोश-सी सुबह उनसे बात हुई। जब वक्त रूक गया था और पुरानी यादों के स्याह-सफेद साये रू-ब-रू थे। ये यादें थीं मुल्क की तक्सीम की। सुनते-सुनते यह महसूस हुआ कि किस तरह विभाजन ने एक मिले-जुले समुदाय को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। जब हम बांटने पर आते हैं तो बंटवारा कभी रूकता ही नहीं। वह नये-नये आधार तलाश लेता है। मुल्क का बंटवारा किसी-न-किसी रूप में आज भी हमारी ज़ेहनियत और समाज पर तारी है। भूलना मुमकिन नहीं और याद करना तकलीफ़ देता है लेकिन, याद करना ज़रूरी है ताकि बंटवारे से उबर कर साझे को याद किया जा सके। वे बोलते रहे मैं नोट करता रहा। जब बातें खत्म हुई तो मैंने पूछा कभी झंग (पाकिस्तान) जाने का दिल करता है? नतीजा-पासपोर्ट की तैयारी चल रही है। पेश है उनकी यादें, उन्हीं की ज़बानी।)

1947 में मैं चौथी क्लास में पढ़ता था। जुलाई-अगस्त में दो महीने की छुट्टियां हुई थीं। आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो सोचता हूँ कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान कैसे बना? मेरे पिताजी तीन भाई थे। मेरे पिताजी की किराने की दुकान थी। ताऊजी हिंदू विरादरी में चौधरी माने जाते थे। उनकी मुसलमानों में भी अच्छी पैठ थी। दो महीने की छुट्टी हुई तो ये बताया गया कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान बन रहा है। पहले की तरह सब सोच रहे थे कि दंगा होगा और सब शांत हो जाएगा, सब अपने-अपने घरों में चले जाएंगे। हमारे घर के सामने एक किलेनुमा घर था। एक दिन सभी हिंदू विरादरी उस घर में इकट्ठे हुए। हमारे गाँव - हवेली बहादुरशाह के मुसलमान मुखिया के ताऊजी से बहुत अच्छे संबंध थे। उन्होंने ताऊजी से बताया कि हो सकता है आज दंगाई आएँ। हम जहाँ रह रहे थे वहाँ कढ़ाहों में पानी गरम किया, ईंटें इकट्ठी कर लीं। छत की दीवाल पर ईंटें जमा दी गयीं। हमारा ध्येय था जब भी कोई हमला करेगा, हम जवाब देंगे। परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। गाँव के मुसलमानों ने दंगाई भीड़ को गाँव के बाहर से ही भगा दिया।

एक दिन ऐसा आया कि हमने यहाँ से जाना है। घर में जिसके पास जो कुछ था, खाने-पीने का, इकट्ठा किया-हलवा बन रहा था हमारे घरों में वहीं पर रोटियां

बनाई गयीं-भोज जैसा। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ कि हमें भी जाना है। दो-चार दिन बाद फिर उसी तरह हमला करने की कोशिश हुई। कुछ लोगों ने कहा कि अगर आप मुसलमान बन जाएँ तो आप पर हमला नहीं होगा। गाँव के मुसलमान भी आए। एक हिंदू भाई ने मुसलमान होना स्वीकार कर लिया। वो अपनी बीवी को लेकर किले से नीचे उतरने लगा। उसके बड़े लड़के को इस बात की भनक पड़ी। वो उनके आगे आकर खड़ा हो गया। उसकी बाप के सामने तो कुछ नहीं चली लेकिन कहा 'मां को नहीं जाने दूंगा।' लड़का 13-14 साल का था, नाम था अमरनाथ। उसका बाप मस्जिद में गया अकेला मुसलमान बनने।

आस-पास के गाँव की भी सूचनाएं आती रहती थीं जहाँ-जहाँ भी हमले होते थे। उन सबकी सूचना मिलती रहती थी। जिस गाँव में हमारी मौसी रहती थी उस गाँव पर भी हमले होने का अंदेशा था तो हिंदुओं ने अपनी पत्नियों, बच्चियों को मार दिया और सिर पर कफन बांध कर निकले। मौसी की सास ने अपने किसी भी पोती या बहू का सिर कलम करने से इन्कार कर दिया लेकिन उन सबको ज़हर पिला दिया। सबको उल्टी आ गयी और सारी बहूएँ और बेटियाँ बच गयीं। इतने में पता चला कि हिंदू मिलिट्री आ गयी, इसके साथ-साथ हमारे गाँव में भी मिलिट्री आ गयी। हम सब अपने आपको सुरक्षित महसूस करने लगे।

मिलिट्री ने आदेश दिया कि आप लोगों को यहाँ से चलना है। आप जो कुछ उठा सकते हो उठा लीजिए। हमारे ताऊजी चौधरी बिशन दास वहाँ पर गुरुद्वारे में गए। ग्रंथ साहब की एक बीड़ छोड़कर बाकी सभी बीड़ों को पास ही एक नहर हवेली प्रोजेक्ट में प्रवाहित कर दिया। वो दिन आ गया। हमारे लिए ट्रक तैयार हुए रामलीला ग्राउंड में। सभी लोग जमा होने लगे। उनको ट्रकों में भरकर भुंग मिधयाना इंडस्ट्रियल एरिया भेजा जाने लगा। हमारे परिवार वाले भी ट्रकों पर चढ़ने लगे। लेकिन किसी भी ट्रक में हम सारे नहीं बैठ सके। जिस ट्रक में मैं था अपने परिवार से अकेला था। ट्रक मिधयाना पहुंचे। मां-बाप ने बच्चों को संभाला। वहाँ कारखानों में जिसको जगह मिली वहीं उसने डेरा डाल दिया। एक दिन घूमते हुए हमें एक बड़ी दरी मिली। हम उसको दिन में बिछाते थे और रात को तंबू

बना लेते थे। वहां रोज़ाना दरबार साहब का प्रकाश होता था। मिलिट्री की तरफ से आटा-दाल मिल जाता था। हम तकरीबन एक महीना रहे। एक दिन पता चला कि आज गाड़ी बाहर जा रही है। जो सामान हमारे पास था उसे लेकर कूच किया।

दुनिया मेले की तरह जा रही थी। मेरे पिता के सर पर सामान था। मुझे मेरी बहन जो केवल ढाई साल की थी सौंप कर मेरे मम्मी-पापा आगे बढ़ गए। मम्मी-पापा आंखों से ओझल हो गए। हम दोनों रोते-रोते आगे बढ़ रहे थे। इतने में पिताजी वापस आए, उन्होंने मेरी बहन को उठाया, मुझे उंगली से लगाकर मां के पास वापस आ गए। इतने में मेरे ताऊजी और चाचा का परिवार दादी समेत मिधियाना स्टेशन पर इकट्ठा हो गए। गाड़ी आई। मम्मी, पापा, चाची, चाचा सबने गाड़ी में सामान रखना शुरू कर दिया। गनीमत यह रही कि हमारे तीनों परिवार एक ही डिब्बे में चढ़ गए। कैंप से चलने से पहले काफी सारी रोटियां पकाकर जमा कर रखी थीं। इतने में मुस्लिम मिलिट्री आई। उसने हमारी गाड़ी का चार्ज संभाला। साथ में चार गोरखे थे। गाड़ी चल पड़ी। स्टेशनों पर रूकती चलती, एक जगह जंगल बियाबान में खड़ी हो गयी। सवेरे का टाइम था। दोपहर होने को आ गयी, गाड़ी नहीं चली। लोगों के पास पीने को पानी नहीं था। पास में एक छोटा नाला बह रहा था। उसमें से पानी भरकर इकट्ठा कर रहे थे। दोपहर बाद उन चारों गोरखों ने गाड़ी चलाने के लिए स्कीम बनायी। एक गोरखा इंजन में, दूसरा गार्ड के पास, बाकी दोनों गाड़ी की छत पर चढ़ गए। असल में गाड़ी को इसलिए रोका गया था ताकि उस पर हमला हो सके। दूर से लोग आते हुए दिखे। गार्ड और इंजन वाले गोरखों ने... गार्ड और इंजन ड्राइवर को गाड़ी चलाने का आदेश दिया। पहले उन्होंने इंकार किया लेकिन जब मिलिट्री ने बंदूकें तान लीं तो गाड़ी सरपट दौड़ने लगी। यह सितंबर-अक्टूबर का कोई समय रहा होगा।

रात में हम बच्चे सो गये। इधर सूरज निकला तो हमारी जाग खुली। अटारी से पहले कहीं गाड़ी रूकी थी। देखा कि चारों तरफ लाशें ही लाशें पड़ी हैं। इतने में हमने भारत की धरती पर प्रवेश किया। हिंदुस्तान में रेलवे के किनारे-किनारे लाशों के ढेर पड़े थे। ऐसा मालूम होता था कि हमारे आने से पहले भारत और पाकिस्तान में क़त्लेआम हुआ था। भारत में प्रवेश करते ही भारत माता की जय के नारे लगे। और हम यह सोच रहे थे कि अब हम

बिल्कुल सुरक्षित हैं। गाड़ी अटारी स्टेशन पहुंची और इसके बाद अमृतसर स्टेशन पहुंची। हमारे तीनों परिवार अमृतसर स्टेशन पर उतरे। हमें पता लगा कि हमारे गुरुजी भी यहीं हैं। अमृतसर में उनकी एक धर्मशाला थी। उसी धर्मशाला में हम भी चले गये। मेरे नानाजी (हमारे नाना पटवारी थे) भी वहीं पर आए क्योंकि मेरी नानी और मेरे दो मामा भी हमारे साथ थे। जब हमारे नाना आए उससे पहले हमारी नानी को कोई घातक बीमारी थी। वहीं पर रहते हुए हमारी नानी की मौत हुई।

भारत के विभाजन से पहले सभी सरकारी नौकरी वालों से ऑप्शन माँगा गया था कि वो भारत में रहना चाहते हैं या पाकिस्तान में। नाना ने भारत सरकार का ऑप्शन दिया था और उन्हें भिवानी तहसील में पटवारी लगा दिया गया। अमृतसर से हमें वो भिवानी ले आए जहां हमें मकान अलॉट था। हमारे नाना जी मेरी मम्मी, पिताजी समेत हमें भिवानी ले आए। हमारे ताऊजी और चाचाजी कुरुक्षेत्र कैंप में चले गए। भिवानी आने पर मेरे छोटे मामा को माता निकली और उसकी मौत हो गयी। एक दिन मास्टर जी हमारे घर आए वो सर्वे कर रहे थे कि किस बच्चे ने किस कक्षा तक पढ़ाई की है। बच्चों के नाम लिखकर उन्हें स्कूल में भेजा जाए। हमारी ज़मीन और मकान की टेम्पेरी अलॉटमेंट भिवानी तहसील में ही चांग में हो गयी। वहां हमारे चाचा-ताई को भी मकान अलॉट हो गया। चाचा-ताऊ भी वहीं आ गये। हमने चौथी पास की और पांचवी में हमारा दाखिला चांग में हो गया। ये अप्रैल 1948 की बात होगी।

भारत आकर पिताजी काम तलाश कर रहे थे। उसी बीच एक जंगल की नीलामी निकली थी। पिताजी ने जंगलात में काम करना शुरू कर दिया। काम चल निकला। आने के बाद झंग से कोई संपर्क नहीं रहा। 15-20 साल पहले कोई व्यक्ति आया था हमारे गुरु जी के पास तभी उसके पास रशीदपुर गुरुद्वारे के मेन गेट की फोटो देखी थी। एक बार जाने का तो मन करता है। हमारा गाँव हवेली बहादुरशाह-बड़ा गाँव था। वहां हाईस्कूल था, अस्पताल था। पचास-पचास फीसदी हिंदू-मुसलमान की आबादी थी। वो वहां पर भाइचारे में रह रहे थे। वहां कोई ऐसी भेदभाव की बात नहीं थी। मुझे अब भी गाँव याद है। वहां हमारी 13वीं पीढ़ी वाले पूर्वजों की समाधि है चौगिदा में। हमारे गाँव में आनंद परिवार के अलावा कोई वहां की मिट्टी छू नहीं सकता था। सब याद है।

(प्रस्तुति : अंशु मालवीय)

बंगलोदशी घुसपैठिये या बांगलाभाषी भारतीय मुसलमान?

■ बॉनोजीत हुसैन

असम के बोडोलैंड टेरिटोरियल ऑटोनॉमस डिस्ट्रिक्ट (बीटीएडी) में शांति की प्रक्रिया हमेशा ही नाजुक और अस्थिर रही है। इस बार यहां का अमन-चैन एक बार फिर तार-तार हो गया है। एक और दो मई को बीटीएडी के कोकराझार और बक्सा जिलों में पूर्वी बंगाली मूल के मुसलमानों के ताजा जनसंहार में 46 लोगों की जान जा चुकी है। इससे भी ज्यादा लोग अभी तक लापता हैं, लिहाजा मरने वालों की तादाद और ऊपर भी जा सकती है।

बीटीएडी में एक खास समुदाय के खिलाफ जातीय हिंसा की यह कोई पहली वारदात नहीं है। नब्बे का दशक बोडो संगठनों द्वारा नेपालियों, आदिवासियों और पूर्वी बंगाली मूल के मुसलमानों व हिंदुओं के खिलाफ बार-बार चलाए गए जातीय सफाये के हिंसक अभियानों का साक्षी रहा है। 2003 में बीटीएडी के गठन के बाद से पूर्वी बंगाली मूल के मुसलमानों को निशाना बनाने का सिलसिला दिन-प्रतिदिन तेज होता गया है। इस तरह की घटनाओं में 2012 के तथाकथित दंगे सबसे गौरतलब हैं जिनमें 108 लोग मारे गए थे। स्थानीय सूत्रों की मानें तो इस हिंसा में मरने वालों में 79 पूर्वी बंगाली मूल के मुसलमान, 22 बोडो और चार अन्य समुदाय के लोग थे।

इस इलाके में बार-बार एक ही समुदाय को क्यों निशाना बनाया जा रहा है, इस बारे में काफी कुछ लिखा जा चुका है। लिहाजा उस पर हम यहां फिलहाल चर्चा नहीं करेंगे। (इस बारे में देखें, संजीव बरुआ 'असम : दि पॉलिटिक्स ऑफ इलेक्टोरल वायलेंस', आउटलुक मैगज़ीन, 9 मई 2014)। हमारे लिए फिलहाल चिंता का सवाल यह है कि बीटीएडी में हो रहे इन हत्याकांडों के विमर्श को किस तरह रातोंरात बांग्लादेश की तरफ से हो रही गैरकानूनी घुसपैठ के सवाल में तब्दील कर दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि इस तरह की हिंसा में मरने वालों को गैरकानूनी बंगलादेशी कहकर हम अपने आपको तसल्ली देने लगते हैं और इस बात से बेफिक्र हो जाते हैं कि हकीकत की और भी परतें हो सकती हैं। फिर भी यदि हम यह मान ही लें कि मरने वाले वाकई 'गैरकानूनी बंगलादेशी' थे तो भी महज

36 घंटे के भीतर 46 लोगों की बर्बर हत्या इंसानियत के खिलाफ एक अपराध तो है ही।

2012 की तरह इस बार भी असमिया समाज के एक बड़े तबके, राष्ट्रीय मीडिया के एक हिस्से और भाजपा ने इन हत्याओं को जायज ठहराने के लिए गैरकानूनी बंगलादेशी घुसपैठ का हवाला देना शुरू कर दिया और फौरन ही हत्याकांड के असली कारणों से ध्यान हटा दिया। कुछ लोगों ने यहां तक कहा कि हत्याकांड में मरने वाले टिड्डू जैसे थे। अगर सोशल मीडिया में कोई असमिया समाज के इस पाखंड पर सवाल उठाने की कोशिश करता है तो उसे मौखिक हमलों और गाली-गलौज से चुप करा दिया जाता है। हाल ही में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की एक असमिया शोधकर्ता के साथ भी असमिया कठमुल्लावादियों ने धमकियों और गाली-गलौज का यही तरीका अपनाया। और तो और उसे यहां तक कहा गया कि अगर उसे इन टिड्डियों से इतनी ही हमदर्दी है तो वह खुद बंगलादेश जाकर क्यों नहीं बस जाती!

अगर यह सवाल पूछा जाए कि ये कठमुल्लावादी कैसे जान जाते हैं कि असम गैरकानूनी बंगलादेशियों की बाढ़ में डूबा जा रहा है तो जवाब में हमेशा झुग्गी बस्तियों, जंगलों के आसपास बसी आबादियों और नदी किनारे बसे टोलों में मियाओं (बंगलादेशी मुसलमानों के लिए इस्तेमाल होने वाली गाली) की बढ़ती तादाद का हवाला दिया जाता है। यह एक जटिल स्थिति को देखने को अति सरलीकृत नस्लवादी नजरिया है।

यह पता लगाना अभी भी मुश्किल है कि आज बीटीएडी इलाके में कुछ कितने गैर-दस्तावेजी बंगलादेशी हैं। गौरतलब है कि औपनिवेशिक शासकों के उकसावे पर 1901 से 1941 के बीच 10 लाख से ज्यादा लोग पूर्वी बंगाल से असम आकर बसे थे। मौजूदा बीटीएडी इलाका औपनिवेशिक काल के गोलपाड़ा और कामरूप जिलों में हुआ करता था। लिहाजा इस बात का जिक्र करना जरूरी है कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान काश्तकार पहले अविभाजित गोलपाड़ा जिले में बसे और बाद में यहीं से वे पश्चिमी और मध्य असम के

दूसरे इलाकों में गए। गोलपाड़ा जिले की दशकीय जनसंख्या वृद्धि 1901-1911 में 30 प्रतिशत थी जबकि इससे पहले के दो दशकों में यह क्रमशः 1.4 प्रतिशत और 2 प्रतिशत थी। 1921-1931 में यह वृद्धि दर गिर कर 15.8 प्रतिशत रह गई थी क्योंकि जिले की ज्यादातर खेती लायक परती जमीन पर ये नए प्रवासी खेती करने लगे थे जो 1901-21 के बीच यहां आए थे। जनसंख्या वृद्धिदर में इसलिए भी गिरावट आई क्योंकि बहुत सारे आप्रवासियों को कामरूप और नगांव जिलों में भी बसने की संभावना दिखाई दे रही थी। 1921 से 1931 के बीच कामरूप के बाड़पेटा सब-डिवीजन की आबादी में 69 प्रतिशत का जबर्दस्त इजाफा हुआ। ऐतिहासिक दस्तावेजों के मुताबिक 1901 से 1931 के बीच अकेले गोलपाड़ा जिले में पूर्वी बंगाल से 4.98 लाख मुसलमान आकर बसे थे। लिहाज, यहां सवाल यह उठता है - विभाजन से पहले यहां आकर बसने वाले पूर्वी बंगाली मूल के लाखों मुस्लिम किसानों की अगली पीढ़ियां अब कहां हैं? (इस स्थिति के विस्तृत सांख्यिकीय विश्लेषण के लिए देखें, बॉनोजीत हुसैन, 'दि बोडोलैंड वायलेंस एण्ड दि पॉलिटिक्स ऑफ एक्सपलेनेशन' सेमिनार मैगजीन, संख्या 640, दिसंबर 2012)।

असम में पूर्वी बंगाली मूल के मुसलमानों के सामाजिक-आर्थिक विकास के दयनीय स्तर को देखते हुए शहरी झुग्गी-बस्तियों, जंगलों और नदियों के आसपास तथाकथित मियाओं की बढ़ती संख्या और मौजूदगी की एक वजह यह हो सकती है कि ये लोग लाचारी में अपने गाँव-घर छोड़ कर रोजी-रोटी की तलाश में असम के शहरों और दूसरे इलाकों की तरफ पलायन कर रहे हों। इससे भी अहम बात यह है कि यह पलायन असम के चार इलाकों से हो रहा आंतरिक विस्थापन भी हो सकता है।

चार इलाका ब्रह्मपुत्र और इसकी सहायक नदियों और तलहटियों का इलाका है। औपनिवेशिक काल के आखिरी दशकों में इन चार इलाकों में पूर्वी बंगाली मूल के मुसलमान खेती के लिए यहां आकर बस गए थे। परंतु आजादी के बाद भी सरकार की उपेक्षा और लापरवाही की वजह से चार इलाके की आबादी की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में कोई सुधार नहीं आ पाया है। 1992-93 और 2002-03 में असम सरकार के सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण से पता चलता है कि असम की आबादी में चार इलाके की आबादी 9.35 प्रतिशत है। इस इलाके का जनसंख्या घनत्व 690 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है (असम का कुल जनसंख्या घनत्व 2001 में 340 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर था)। इस सर्वेक्षण से यह

भी पता चला कि 1992-93 से 2002-2003 के बीच चार इलाके में साक्षरता दर 15.4 प्रतिशत से केवल 19.31 प्रतिशत तक बढ़ पायी थी (जबकि 2001 में असम की कुल साक्षरता दर 63.25 प्रतिशत थी)। 2002-03 में चार इलाके के 67.90 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा से नीचे थे और यह संख्या 1992-93 के मुकाबले 19 प्रतिशत ज्यादा थी (2001 में असम में गरीबी की रेखा से नीचे आबादी कुल 34 प्रतिशत थी)।

ब्रह्मपुत्र और इसकी सहायक नदियों के प्रवाह में आने वाले उतार-चढ़ाव के साथ कुदरती तौर पर बंधे होने की वजह से चार इलाके के लोग बार-बार मिट्टी के कटाव और बहाव की समस्या का सामना करते हैं। उनके सामने बार-बार आंतरिक विस्थापन के अलावा कोई रास्ता नहीं होता। हालांकि चार इलाकों से होने वाले विस्थापन के बारे में ठोस आंकड़े ढूंढना मुश्किल है मगर कुछ सूक्ष्म अध्ययनों से इस इलाके में बाढ़, मृदा स्खलन और बाढ़ चक्र का काफी सटीक अंदाजा मिलता है। बाड़पेटा जिले के चार इलाकों में डॉ. गोर्की चक्रवर्ती द्वारा किए गए एक अध्ययन में पाया गया कि इस दौरान (1989-98) जब असम में कोई बड़ी बाढ़ नहीं आई थी तब भी सर्वेक्षण के दायरे में लिए गए चार इलाके के परिवारों में से 45 प्रतिशत परिवारों के घर और 51 प्रतिशत जमीन बाढ़ की भेंट चढ़ चुकी थी। बाड़पेटा जिले में ब्रह्मपुत्र की सहायक नदी बेकी के खादर में पड़ने वाले इलाकों में किए गए एक 25 वर्षीय (1980-2004) अध्ययन में भी यही पाया गया कि इस दौरान 77 प्रतिशत मकान जमीन के कटाव से प्रभावित हुए और 94 प्रतिशत जमीन बाढ़ से नष्ट हो चुकी थी। (गोर्की चक्रवर्ती, 'असमस हिंटरलैंड: सोसायटी एण्ड इकोनॉमी इन दि चार एरियाज' आकांक्षा पब्लिशर्स, दिल्ली 2009)। शोचनीय सामाजिक-आर्थिक स्थिति, मृदा स्खलन और विस्थापन की इस भारी समस्या को देखते हुए चार इलाकों के लाखों लोगों के पास दूसरे इलाकों की तरफ पलायन करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचता।

जब एक गैर-दस्तावेजी बंगलादेशी प्रवासी और पूर्वी बंगाली मूल के मुस्लिम नागरिक के बीच फर्क करना इतना मुश्किल हो तब सवाल यह उठता है कि असमिया कठमुल्लावादियों और भाजपा के नेता कैसे इतने यकीन के साथ यह एलान कर देते हैं कि बालपाड़ा, नरसिंहवाड़ी और नारायणगुडी (तीन गाँव, जहां हालिया हत्याकांड हुआ है) के गाँव वाले वाकई 'गैरकानूनी बंगलादेशी' थे?

एक और गौरतलब बात यह है कि इस भेद को बताने के लिए कौन से तर्क और तरीके अपनाए जा रहे हैं? असल में गैर-दस्तावेजी बंगलादेशी प्रवासी और पूर्वी बंगाली मूल के मुस्लिम नागरिकों के बीच फर्क इतना ज्यादा नहीं है जितना इनके बीच समानता है। दोनों के बीच शारीरिक और सांस्कृतिक समानताएं साफ दिखती हैं : दाढ़ी, लुंगी, धर्म और भाषा। लिहाजा जब हम 'गैरकानूनी बंगलादेशी कहते हैं तो क्या यह असम में रहने वाले पूर्वी बंगाली मूल के किसी भी मुसलमान के लिए नस्ली गाली नहीं होती?

यहां बेधड़क इस्तेमाल होने वाले और अकसर निराधार जुमलों पर गौर करना जरूरी है - 'गैंडों के शिकार में गैरकानूनी बंगलादेशियों का हाथ है।' 'वे मासूम आदिवासियों को लूट लेते हैं।' 'असम के गाँवों में औरतों का बलात्कार करते हैं, उनको मार डालते हैं।' इन आरोपों के जरिए जो

गोलबंदियों हो रही हैं, उनमें एक नए किस्म की तर्कशीलता पैदा हो रही है जो किसी भी कीमत पर पूर्वी बंगाली मूल के मुसलमानों को 'कमतर इंसान' या महज 'टिड्डी दल' मनवाने पर आमादा है। कहने की जरूरत नहीं कि किसी दूसरे समुदाय को बेकाबू वासना और स्वभाव से ही आपराधिक प्रवृत्ति वाला 'कमतर इंसान' मानना पिछली आधी सदी के दौरान नस्ली सोच की सबसे बड़ी विशेषता रही है।

साभार : CRITIQUE

अनुवाद योगेन्द्र दत्त

बॉनोजीत हुसैन मूल रूप से असम निवासी हैं व दिल्ली में शोध कर रहे हैं। वे एनएसआई के साथ जुड़े हुए हैं।

करेली क्षेत्र में बसे बिहारी/बंगलादेशी कहे जाने वाले लोगों के बारे में एक रिपोर्ट

■ सरिता भारती

परिचय : इलाहाबाद के करेली क्षेत्र में कुछ जगहों पर बिहारी मुस्लिम जो कि बंगलादेशी कहे जाते हैं, बसे हुए हैं। जैसे कि लालकालोनी, गंदा नाला, पुरानी पानी की टंकी, हड्डी गोदाम, नया रसूलपुर, काला डांडा, अटाला कब्रिस्तान के पास, बसीहाबाद, करेलाबाग आदि जगहों पर नाले के किनारे, कूड़े-कचरे वाली जगह पर, नगर निगम की जमीन पर।

शहर में बसे लोगों के बारे में एक परिचय : शहर में बिहारी मुस्लिमों के परिवारों का शहर में आने और बसने का सबसे बड़ा कारण बेरोजगारी तथा अन्य सुविधाओं का अभाव है। कुछ लोगों के पास घर खेती है, तो कुछ के पास कुछ भी नहीं। जिनके पास है भी तो बाढ़ के कारण खेती नष्ट होती थी तथा काम का कोई जरिया न होना। जिन लोगों का घर गाँव में है वह साल में एक या दो बार गाँव जाते हैं। तथा परिवार के अन्य लोगों से जुड़ाव रहे तथा गाँव के लोगों को शहर के रोजगारों से अवगत कराना तथा उनको भी गाँव से शहर में कमाने के लिए जरिया बताना। यह लोग झोंपड़पट्टी बनाकर रहते हैं। सुविधाओं का अभाव

हमेशा बना रहता है। क्योंकि यह नगर निगम या अन्य स्थानों पर नहीं भी रहते हैं। इन्हें पानी, बिजली, शौचालय, साफ-सफाई तथा सामाजिक असुरक्षा से जूझना पड़ता है। बिजली चाहिए तो दबंग लोग हर महीने पैसे लेते हैं। पानी नालों के आसपास, गली के किनारे से भरकर लाते तथा पीते हैं। शौचालय की कोई व्यवस्था नहीं है। नहाने तथा पेशाब को गड्ढे में इकट्ठे करके खुद फेंकना पड़ता है। क्योंकि बस्ती में नाली की कोई व्यवस्था नहीं है।

इलाहाबाद में ज्यादातर लोगों को लगभग 30 से 35 वर्ष रहते हो गया। लेकिन पहचान की समस्या आज भी उनके लिए एक बड़ी समस्या बनी हुई है। किसी के पास राशनकार्ड है तो किसी के पास पहचान पत्र। ज्यादातर लोगों के पास कोई आई.डी. ही नहीं है। जिससे उन्हें हमेशा परेशानियों से जूझना पड़ता है। अपनी पहचान बताने तथा सरकारी सुविधाओं का न मिल पाना यह एक बड़ी समस्या है। बस्ती में लोगों का काम इस प्रकार है : महिलाएं घरों में चौका-बर्तन तथा कुछ महिलाएं घर पर ही रिक्शे वालों को खाना खिलाने का

काम करती है। पुरुष रिक्शा ट्रॉली चलाना तथा कबाड़ का काम करते हैं। जिससे इनका जीवन का गुजारा चलता है। बस्ती के लोग पहले तो बच्चों को पढ़ने नहीं भेजते थे। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से उनमें बच्चों को पढ़ाने तथा स्कूल भेजने के प्रति जागरूकता बढ़ी है। लेकिन स्कूलों का रवैया बच्चों के प्रति अच्छा नहीं है। स्कूल में बच्चों के साथ भेदभाव, छूआछूत तथा जातपात की भावना से देखा जाता है। जिससे लोगों में स्कूलों के प्रति अविश्वास की भावना पैदा हुई है। बच्चों के साथ मारपीट-हिंसा भी की जाती है। जिससे कुछ बच्चों ने पढ़ाई छोड़ दिया तथा बहुत समझाने तथा बात करने के बाद भी स्कूल जाने के लिए तैयार नहीं होते हैं।

इनका खान-पान मुख्य रूप से चावल, सब्जी, मुर्गे का पंख, बकरे गोश्त, भैंसे का गोश्त, अंडा, सहजन की पत्ती तथा फली। नाश्ते में रोटी, सब्जी, चाय, लाई खाते हैं। यह खाना भी उनको रोज नहीं मिल पाता है। जो मिलता है उसमें स्वास्थ्य को पूरा पोषण मुश्किल से मिलता है। खाना बनते ही घर के पुरुषों को पहले खिलाया जाता है। बचा-खुचा खाना महिलाएं खाती हैं। सब्जी नहीं बची तो नमक चटनी से रोटी, चावल खा लेती है। जो कि उनकी कमजोरी की वजह बनी हुई है। महिलाओं में माहवारी की अनियमित आना, सफेद पानी तथा कमर दर्द लगातार रहना इस तरह की समस्या लड़कियों में भी देखने को मिलती है।

इलाहाबाद में रहने वाले बिहारी मुस्लिम ज्यादातर लोग विशेषकर चांद शहर जिला साहेबगंज के गाँव फुलवड़िया, राजवाड़ा के स्टेशन बेरुआ के रहने वाले हैं। शहर में रहने वाले लोग गाँव में जब जाते हैं तो गाँव के लोगों से यह नहीं बताते कि लोगों के घरों में झाड़ू-पोछा, बर्तन धोना तथा कबाड़ बीनने का काम करते हैं। क्योंकि उनको शर्म महसूस होती है। तथा लोग भी उनके काम को ठीक नहीं समझेंगे। यह डर इनमें बना रहता है।

घटनाएं : शहर में गुजर-बसर करते हुए लोगों को बहुत सी घटनाओं का भी सामना करना पड़ता है। जैसे चोरी का इल्जाम, महिलाओं व लड़कियों के साथ छेड़छाड़, पुरुषों के साथ मारपीट, बम विस्फोट, घरेलू कामगार महिलाओं पर आए दिन चोरी का इल्जाम, स्थानीय दबंगों द्वारा हिंसा, पुलिस द्वारा झूठे आरोप का लगाना आदि घटनाएं होती रहती हैं।

जून, 2012 में करेली के पानी की टंकी की बस्ती में बम विस्फोट हुआ। जिसमें पांच बच्चों की तुरंत मौत हो गई। तथा तीन महिलाएं, दो लड़कियां व तीन लड़के गंभीर रूप से घायल हुए थे। बम विस्फोट की वजह कुछ लोग कबाड़ में बम लाने की वजह बता रहे हैं। तो कुछ किसी ने बस्ती में बम रख दिया इस तरह की बात करते रहे। मीडिया टी.वी. ने भी यही प्रचार किया कि बस्ती के लोग ही बम कबाड़ में लाकर तोड़ रहे थे तभी यह घटना हुई थी। लेकिन बस्ती के लोग बार-बार मीडिया टी.वी. वालों को बताते रहे कि वह लोग कबाड़ बीनने नहीं जाते हैं। पुरुष ट्रॉली रिक्शा चलाते हैं। महिलाएं लोगों के घरों में चौका बरतन करने जाती हैं। और जो बच्चे मरे हैं वह भी कूड़ा बीनने नहीं जाते थे बल्कि स्कूल में पढ़ने जाते थे। उनमें से एक लड़का तो रिश्तेदार के यहां घूमने आया था। बम विस्फोट में जो लोग घायल हुए थे उनके जख्म आज भी पूरी तरह से ठीक नहीं हुए हैं।

सरकार द्वारा लोगों को मुआवजा भी मिला तो देर से और मुआवजे का चेक पास करने में स्थानीय नेता तथा दबंगों ने भी फायदा उठाया। लोगों को घटना के वक्त जिस सरकारी अस्पताल में भर्ती करवाया गया था वहां उनका ठीक से इलाज भी नहीं किया गया। लोगों को प्राइवेट डाक्टर से इलाज करवाना पड़ा। जिसके कारण लोगों को कर्ज भी लेना पड़ा। जब माहौल थोड़ा ठीक हुआ तब लोगों ने बताया कि उन लोगों को जमीन खाली करने के लिए बार-बार धमकी मिल रही थी और कहा गया था कि बात न मानेंगे तो जान से मार देंगे। यह धमकी स्थानीय दबंगों तथा भूमाफिया द्वारा दी जा रही थी। इस घटना से लोगों के मन में डर बैठ गया। कुछ लोगों ने अपनी झोंपड़ी दूसरी जगह लगा ली तो कुछ गाँव वापस चले गए।

झूठे इल्जाम

कबाड़ का काम करने वाले लड़कों तथा पुरुषों पर आए दिन चोरी का इल्जाम लगाकर पुलिस बंद कर देती है तथा छोड़ने के लिए लोगों से ज्यादा पैसा वसूलती है। समय-समय पर इन्हें धमकी मिलती रहती है। माघ मेले तथा अन्य त्यौहारों पर पुलिस बस्ती में लोगों का आई.डी. चेक करके तथा जिनके पास आई.डी. नहीं होती उनका फोटो खींचकर ले जाती है ताकि कोई भी घटना होती है तो इन लोगों को ही पकड़ सकें।

पर्यावरण संकट की गंभीरता का एहसास करते हुए सभी बुद्धिजीवियों, सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं और पर्यावरणविदों को एक मंच पर आकर, धरती माता के अस्तित्व को बचाने के संघर्ष में जुट जाना है।

पानीपत थर्मल प्लांट

■ आशु वर्मा

पानीपत थर्मल प्लांट के सामने से गुजरते समय अक्सर दैत्याकार चिमनियाँ और उनसे निकलता धुआँ, दूर तक फैली राख की पहाड़ियाँ और बंजर खेत, धूल और राख से अटी बस्तियाँ, गर्द में सने पेड़, उदास और बेरौनक दुकानें ध्यान खींचती थीं। नेहरू ने जिन बड़े सार्वजनिक प्रतिष्ठानों को आधुनिक युग के मंदिर और “कमांडिंग हाइट्स” कहा था, उन्हीं में से एक, इस प्लांट के आसपास की हवा इतनी बोझिल क्यों महसूस होती है? हवा में एक घुटन क्यों तारी रहती है? आसपास का मंजर इतना डरावना क्यों है? क्या वास्तव में यह मंदिर ही है? मन में प्रश्न उठता कि अगर यह मंदिर हैं तो देश में तमाम जगहों में बन रहे पावर-प्लांटों के खिलाफ आन्दोलन क्यों चल रहे हैं और लोगों का विरोध कहाँ तक उचित है? खबरों के पीछे की सच्चाई क्या है? इन्हीं बातों को जानने-समझने और अपनी आँखों से देखने हम पानीपत थर्मल प्लांट गए और उसके आस-पास के गाँवों के लोगों से बातचीत की। पानीपत के पत्रकार श्री प्रीतपाल ने इस काम में हमारी बहुत मदद की। उनके हवाले से जो जानकारियाँ हमें मिलीं वह परेशान करने वाली हैं।

यह प्लांट 1974 में 110 मेगावाट बिजली उत्पादन के साथ शुरू हुआ और आज यहाँ 1368 मेगावाट बिजली का उत्पादन हो रहा है। प्लांट का परिसर 2182 एकड़ में फैला हुआ है जिसमें से प्लांट से निकलने वाली राख के लिए 900 एकड़ जमीन में तालाब (ऐश पौण्ड) बना हुआ है। इस तालाब की गहराई पच्चीस मीटर है। इस प्लांट में बिजली उत्पादन के लिए रोज 20,000 टन कोयला लगता है जो धनबाद (झारखंड) और इंडोनेशिया से मंगवाया जाता है। इस 20,000 टन कोयले से 17,000 टन राख बनती है जिसे पानी के साथ पाइपों के जरिये ऐश पौण्ड में डाला जाता है। दशकों से लगातार राख और पानी बहाए जाने से मीलों तक फैला भयानक दलदल बन गया है जो पानी की तलाश में आये जानवरों को लील जाता है। राख के साथ पानी मिलाये जाने से आस-पास के लगभग दस गाँवों का भूजल स्तर जीरो हो गया है। फसलें खराब हो जाती

हैं, मकानों में भयंकर सीलन है और रेह, सेम या नूनी जमी रहती है, काफी सारे मकानों में दरार आयी हुई है। नए मकान भी ज्यादा दिन नहीं बच पाते। लोग दहशत-भरा जीवन जी रहे हैं। प्रीतपाल जी ने खुखराना गाँव का सरकारी स्कूल दिखाया जो बेहद जर्जर हालत में था। दीवारों में भयंकर सीलन थी, ईंटे झड़ी हुई थीं। एक अजीब सी मनहूसियत पूरे प्रांगण में पसरी हुई थी। जमीन के नीचे पड़े हुए पानी के पाइप की चूड़ी बंद थी फिर भी लगातार पानी बह रहा था। हमें बताया गया कि भूजल के जीरो लेवल पर होने के कारण पानी बहुत ऊपर आ गया है। बहुत से खेत अधिक पानी के कारण खराब हो गए हैं।

प्लांट से लगातार निकलने वाली राख के कारण पच्चीस मीटर गहरा राख का तालाब भरते-भरते अब जमीन की सतह तक आ पहुंचा है। आस-पास के गाँवों में लगातार राख उड़-उड़कर आती रहती है और जब हवा चलती है तब खुखराना, सुताणा, असन, लुहारी, जाटकलां और अन्य गाँव राख से ढँक जाते हैं। यह राख दस किलोमीटर के दायरे में उड़ कर जाती है। यह राख आपके कपड़े, शरीर, मुँह, फेफड़े, मकान, पशु... सब को अपनी गिरफ्त में ले लेती है। हर जगह राख ही राख होती है। कोई बाहर सो नहीं सकता।

लोगों ने बताया की विश्वबैंक ने पहले राख के प्रबन्धन के लिए पैसा दिया था, पर उसका इस्तेमाल नहीं किया गया। अब तो इस मद में कोई पैसा भी नहीं आता। राख से सीमेंट बनाने के लिए जे. पी. सीमेंट की फैक्टरी लगी है पर उसमें रोज निकलने वाली 1700 टन राख में से मात्र 200 टन ही इस्तेमाल होती है। पहले ईंट भट्टे वाले कुछ राख लेते थे, पर ईंट की गुणवत्ता खराब हो जाने से उन्होंने राख लेना बंद कर दिया। अब मुफ्त देने पर भी वे नहीं लेते। इस राख के कारण टीबी से आस-पास के गाँवों के लगभग चालीस लोगों की मौत हो चुकी है। खुखराना के एक सरपंच की मौत भी टीबी से ही हुई थी... खुखराना के नम्बरदार ने एलर्जी से खराब हुआ अपना हाथ दिखाया। आस-पास के गाँवों के 80 प्रतिशत लोग दमा, एलर्जी, टीबी

या आँख के रोगी हो चुके हैं। पहले कभी इन गाँवों में मेडिकल कैम्प लगते थे और प्लांट से डॉक्टर आते थे, पर अब धीरे-धीरे यह सब बंद हो गये हैं। उच्च न्यायालय का आदेश था कि यहाँ के बाशिंदों की हर हफ्ते जाँच होनी चाहिए, कुछ दिनों तक जाँच हुई पर थोड़े समय बाद वह भी बंद हो गयी। गाँवों के उप स्वास्थ्य केंद्र में शायद ही कोई दवाई मिलती है। लोगों के स्वास्थ्य और जीवन को किस्मत के भरोसे छोड़ दिया गया है। लोगों ने बताया कि लगातार बीमार रहने के कारण अब एक बीमारी ठीक होने से पहले दूसरी बीमारी पकड़ लेती है। इस इलाके में मलेरिया और टाईफाइड आम है। पहले पीने का टैंकर आता था, अब वो भी आना बंद हो गया है। हैण्डपम्पों से शोरायुक्त पानी आता है। जिन लोगों की आर्थिक हालत थोड़ी ठीक है, उन्होंने तो आर.ओ. लगवा लिए हैं, पर गरीब तो वही पानी पी रहे हैं जो प्लांट से निकल कर ऐश पौण्ड में जाता है और सीवेज के द्वारा पम्पों तक पहुँच जाता है। सुताना गाँव में कोई अपनी लड़की की शादी नहीं करना चाहता। लोगों ने बताया कि प्लांट लगने के बाद सरकार की ओर से आसपास के लोगों के स्वास्थ्य या उनकी दूसरी समस्याओं का पता लगाने के लिये कभी कोई सर्वे नहीं करवाया गया।

लोगों का कहना था कि फसलों पर धूल की परत जमा रहती है और बाजार में उसके दाम कम मिलते हैं। मार्च-अप्रैल में जब फसलों की कटाई होती है, तब राख की आंधी के कारण खुखराना और जाटकला गाँवों में कटाई के लिए मजदूर नहीं मिलते। खुखराना गाँव के लोगों ने बताया कि प्लांट के लिए जब सरकार यह जमीन ले रही थी तो यहाँ के बाशिंदों और किसानों को आने वाले समय में यहाँ के पर्यावरण और लोगों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले इन दुष्प्रभावों के बारे में नहीं बताया गया था।

किसानों को यह अफसोस है की आज उनके जिन खेतों की प्रति एकड़ कीमत एक करोड़ है वह उनसे बेहद सस्ते दामों पर ली गई थी। 1970 में बहुत सारे किसानों को मात्र 580 रुपये तो कुछ को 2000 रुपये प्रति एकड़ जमीन का मुआवजा मिला। 1977 में मुआवजे की राशि 8000 रुपये और 1990 में 70000 रुपये प्रति एकड़ जमीन की कीमत मिली। आज किसान अपनी जमीनों से भी हाथ धो बैठे हैं और स्वास्थ्य से भी। अपने बच्चों को देने के लिए उनके पास बीमारियों के अलावा कुछ भी नहीं है। कुछ लोगों को तो मुआवजा भी नहीं मिला। लोगों ने बताया की इमरजेंसी के समय जमीन ली गयी। पहले हमने पैसे लेने से इनकार किया था। फिर ले ली। पहले जे.सी.बी. नहीं थी। सबको काम मिल

जाता था। आज प्लांट में भी जिन्हें काम मिला है उनकी संख्या ज्यादा नहीं है। कम पढ़े लिखे होने से काम भी छोटे पदों पर ही मिला है।

खुखराना गाँव के मौजूदा सरपंच ने बताया की गाँव वालों ने हाई कोर्ट में मुकदमा लड़ा कि स्वास्थ्य कारणों से उन्हें कहीं और बसाया जाए। मुकदमे के लिए भी उन्हें अपना वकील करना पडा, ताकि कोई गड़बड़ी न हो जाये। मुकदमा जीते दस साल हो गए हैं पर इस बिना पर कि इस गाँव को विस्थापित कर अब पास के सौदापुर गाँव में बसाना है, इसलिए अब कोई ग्रांट भी नहीं मिलती। खुखराना गाँव जिसकी जमीन पर प्लांट लगा है, उसके बाशिंदों ने ही हाई कोर्ट से अपने लिए स्वास्थ्य कारणों से नयी जगह की माँग की थी। वह फैसला आये भी दस साल बीत चुके हैं, अभी तक न तो उन्हें सौदापुर में बसाया गया है और ना ही किसी प्रकार की ग्रांट सरकार की ओर से मिल रही है। इसके विरोध में कई गाँवों की महापंचायत भी हो चुकी है। दूसरे, सरकार ने गाँव में बसाने के लिए सिर्फ 54 एकड़ जमीन ही तय की है। बहुत सारी जमीन, मसलन पंचायती जमीन के कुछ हिस्सों को छोड़ दिया गया है। लाल टोर के अंदर की जमीन का ही मुआवजा तय हुआ है। गाँव का कुल मुआवजा 1.5 लाख प्रति एकड़ निर्धारित किया गया है।

खुखराना, सुताना और आसपास के दस गाँव के लोग देश की राजधानी दिल्ली की जगमगाहट के बदले अपने पुरखों की जमीन खो बैठे है। खुद तिल-तिल कर मर रहे हैं और विरासत में अपने बच्चों को अन्धकारमय भविष्य देने को अभिशप्त है। वे विकास के ऐसे भयानक मॉडल का शिकार हो गए हैं जिसमें आम मनुष्य के जीवन की कोई कद्र नहीं। जो आम आदमी के जीने के अधिकार तक को चोट पहुँचाता है। जो लोगो को अपनी जगह जमीन से उजाड़ देता है और पर्यावरण का भयानक विनाश करता है। यह मॉडल पहले लुभावने सपने दिखाता है और फिर आसपास के प्रभावित लोगों को बीच भंवर में छोड़ कर उन्हें पूरी तरह लाचार बना देता है।

नेहरु के 'आधुनिक युग के मंदिर' तो फिर भी सार्वजनिक क्षेत्र के अधीन थे। उनके लिए सरकार जवाबदेह थी। आज निजीकरण और उदारीकरण के दौर में नीजि पूँजी को लूट कि खुली छोट है और उसके मार्ग में आने वाली हर कानूनी अड़चन को हटाया जा रहा है, चाहे भूमि अधिग्रहण कानून हो, श्रम कानून हो या पर्यावरण सम्बंधी कानून, सबको विकास दर के आगे कुर्बान किया जा रहा है। जो लोग इस विनाशकारी रास्ते का विरोध करते हैं उन्हें विकास में बाधक घोषित कर दिया जाता है।

कनहर बांध की अजब दास्तान

■ अंशु मालवीय

कई बार सच्चाई कहानियों से ज़्यादा फैंटास्टिक होती है। ऐसी ही एक सच्चाई है कनहर बांध परियोजना की। इस सच्चाई के एक छोर पर है अधर में लटकी परियोजना और दूसरे छोर पर है विस्थापन की आशंका में जीते एक लाख से ज़्यादा ग्रामीण-आदिवासी आबादी। यह प्रस्तावित परियोजना प्रतीक है इस बात का कि किस तरह हमारा तंत्र सार्वजनिक पैसे का दुरुपयोग करता है तथा जनता और प्राकृतिक संसाधनों की उपेक्षा करता है। 38 साल पहले शुरू हुई परियोजना तीन बार शिलान्यास से गुज़री, करोड़ों रुपये बरबाद हुए और इतनी बड़ी आबादी अर्द्ध विस्थापन की स्थिति में जीती रही। आज नये सिरे से यह परियोजना गाँव, जंगल और पहाड़ के लिए डूब का संदेश लेकर आ गयी है।

कनहर बांध परियोजना सोनभद्र की कनहर नदी पर बनायी जाने वाली है। कनहर, सोन की सहायक नदी है और पहाड़ तथा जंगल के रास्ते होकर बहती है। सोनभद्र जिला उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा जिला है। इसका क्षेत्रफल 6788 वर्ग किलोमीटर है जिसका 3782.86 वर्ग किलोमीटर इलाका जंगल से घिरा है। सोनभद्र की सीमाएं उत्तर-पूर्व में बिहार से, पूर्व में झारखंड से, दक्षिण में छत्तीसगढ़ से और पश्चिम में मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर तथा चंदौली जिलों से मिलती है। सोनभद्र का ज़्यादातर हिस्सा पहाड़ों और जंगलों से आच्छादित है। सोनभद्र की 70 फीसदी आबादी आदिवासी है, जिसमें गोंड, करवार, पन्निका, भुईयां, बैगा, चैरो, घासिया, धरकार और धांगर आते हैं। अधिकतर ग्रामीण-आदिवासी अपनी जीविका के लिए जंगलों पर निर्भर हैं। वे जंगल से तेंदू पत्ता, शहद, सूखी लकड़ियां और जड़ी-बूटियां इकट्ठा कर उन्हें बाज़ार में बेचते हैं। कुछ के पास छोटी जोते भी हैं जो ज़्यादातर चावल और कभी-कभी सब्जियां पैदा करते हैं। इस इलाके में रहने वाले बहुत से आदिवासियों को रिज़र्व फॉरेस्ट एक्ट के अनुच्छेद 4 तथा अनुच्छेद 20 ने उनकी ज़मीन और वनाधिकार से वंचित कर रखा है। रिज़र्व फॉरेस्ट एक्ट की वजह से बहुत से लोगों पर फर्जी मुकदमों लाद दिये गये हैं। वह कहानी अलग रिपोर्ट की माँग करती है।

सोनभद्र जिला भारत के विकास के उस मॉडल का नतीजा भुगत रहा है जिसे आज़ादी के बाद अपनाया गया और जो आज भी बदस्तूर जारी है। बिड़ला का हिंडालको और हाईटेक कार्बन प्लांट, बीना, ककरी, खड़िया, दुद्धी, चुआँ में केंद्र सरकार की कोयला खदानें, शक्तिनगर और बीजपुर में एनटीपीसी तथा अनपरा में बिड़ला समूह द्वारा संचालित विद्युत संयंत्र यानी पूरा सोनभद्र औद्योगिक प्रदूषण और विस्थापन की मार से कराह रहा है। अध्ययन बता रहे हैं कि

सोनभद्र का पानी ज़हरीला हो चुका है और हवा प्रदूषित। यहां इतने बड़े पैमाने पर औद्योगिकरण की वजह है प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता। लेकिन ये प्राकृतिक संसाधन स्थानीय जनता के लिए विस्थापन का पैगाम ही लाए हैं। विस्थापन की एक नई कहानी लिखने की तैयारी कर रहा है कनहर बांध।

कनहर बहुदेशीय परियोजना की कहानी शुरू होती है 6 जनवरी, 1976 से जब उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री नारायण दत्त तिवारी ने इस परियोजना का शिलान्यास किया। कनहर नदी पर बनने वाली इस परियोजना का प्रभाव उत्तर प्रदेश के सोनभद्र, छत्तीसगढ़ के सरगुजा और झारखंड के गढ़वा जिलों पर पड़ने वाला है। एक अनुमान के मुताबिक तैयार होने के बाद इस बांध का जलक्षेत्र 2000 वर्ग किलोमीटर होगा और तीन राज्यों के करीब 80 गाँव इससे प्रभावित होने वाले हैं। इसी अनुमान के मुताबिक तकरीबन एक लाख ग्रामीण आदिवासी आबादी हमेशा के लिए अपने पुरखों की ज़मीन से उजड़ जाएगी।

कनहर बहुदेशीय परियोजना को सितंबर 1976 में केंद्रीय जल आयोग की अनुमति मिली और इसकी प्रारंभिक अनुमानित लागत 27 करोड़ आंकी गयी। 1979 में इसे 55 करोड़ के साथ नये सिरे से तकनीकी अनुमति मिली। मध्य प्रदेश (अब छत्तीसगढ़), बिहार और उत्तर प्रदेश के बीच पानी और डूब क्षेत्र को लेकर चलने वाले विवाद को नज़रअंदाज़ करके परियोजना को अनुमति दी गयी और अंततः उसकी लागत 69 करोड़ बतायी गयी। तीनों ही प्रदेशों के पर्यावरण मंत्रालयों ने इस इलाके में होने वाले भयानक नुकसान की आशंका को नज़रअंदाज़ किया और कोई भी ऐसा विस्तृत सर्वे नहीं किया गया जो परियोजना द्वारा पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव का ठीक-ठीक आकलन करता हो। एक शुरुआती अध्ययन के अनुसार यह अनुमान लगाया गया कि तकरीबन 9 लाख पेड़, 2500 कच्चे घर, 200 पक्के घर, 500 कुएं, करीब 30 स्कूल और कुछ अन्य इमारतें डूब क्षेत्र में आने वाले हैं। आज यह आंकड़े और बढ़ गये होंगे। इस बांध परियोजना से होने वाले विस्थापन के विरुद्ध शुरू हुए 'कनहर बचाओ आंदोलन' के सक्रिय आदिवासी नेता विश्वनाथ खरवार बताते हैं कि परियोजना के शिलान्यास के बाद एक एकड़ का 22 सौ रुपये की दर से मुआवज़ा दिया गया था। लेकिन जैसा कि दावा किया गया था ज़मीन के बदले ज़मीन किसी को नहीं दी गयी। परियोजना पर जो भी थोड़ा बहुत काम हुआ उसमें बाहर से मज़दूर बुलाए गए और स्थानीय लोगों को मज़दूरी भी नहीं दी गयी। 1976 में पहले शिलान्यास के बाद कनहर की कहानी बहुत

नाटकीय होती गयी। हर एक अंतराल के बाद वहां काम शुरू होता और फिर बंद हो जाता। वहां कभी भी लगातार काम नहीं चला। हां सिंचाई विभाग और लोक निर्माण विभाग के दस्तावेज़ देखें तो पता चलता है कि धन का खर्च लगातार दिखाया जाता रहा। 1984 में वहां काम रूक गया और सूत्र यह बताते हैं कि उसका पैसा दिल्ली में होने वाले एशियाई खेलों की तरफ स्थानांतरित कर दिया गया। 1989 में पुनः काम लगा और 16 परिवार उजाड़ दिये गये। इसके बाद दो दशक से ज़्यादा या तो काम बंद रहा या छिटपुट कार्रवाई चलती रही। कनहर बांध की साइट पर जाकर देखा जा सकता है कि करोड़ों रुपये के यंत्र यूं ही धूप-धूल और मिट्टी में पड़े हुए जंग खा रहे हैं और तकरीबन कोई भी निर्माण कार्य नहीं हुआ है। लेकिन इस नाटक में और कई मोड़ आने वाले थे। इस रूकी हुई परियोजना के लिए एक नया शिलान्यास तत्कालीन मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश मायावती ने 15 जनवरी 2011 को किया। काम फिर भी नहीं शुरू हो सका। कनहर बांध के स्पिल वे का निर्माण शुरू करने के लिए एक नया शिलान्यास सिंचाई एवं बाढ़ नियंत्रण मंत्री शिवपाल सिंह यादव द्वारा सात नवंबर 2012 को हुआ। शिलान्यास दर शिलान्यास। न काम शुरू होता है न ही गाँव वालों के सिर पर लटकती तलवार हटती है। बजट बनता है, पैसा खर्च होता है और लोग अर्द्ध विस्थापन में जीने को बाध्य रहते हैं।

इस हालत से तंग आकर ग्राम स्वराज समिति की पहलकदमी पर आदिवासी-किसानों ने सन् 2012 में 'कनहर बचाओ आंदोलन' की शुरुआत की। इस आंदोलन का उद्देश्य है कि कनहर बांध से होने वाले पर्यावरण विनाश और विस्थापन के खिलाफ व्यापक जनगोलबंदी करना। इसी सिलसिले में कनहर बचाओ आंदोलन ने 30 जनवरी 2012 को एक विशाल जनसम्मेलन आयोजित किया। जिसमें एक सुर से ग्रामीण-आदिवासियों ने कनहर बांध को नकार दिया। ग्राम स्वराज समिति के संयोजक वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता महेशानंद कहते हैं- 'सन् 1976 में शुरू की गयी यह परियोजना 1984 में परित्यक्त कर दी गयी। आज 30 साल बाद बगैर किसी नई अनुमति और नये अध्ययन के उसे फिर से शुरू करने का क्या औचित्य है? यह सच्चाई बहुत महत्वपूर्ण है कि परियोजना के आरंभ होने से पहले सरकार ने अधिसूचना जारी कर भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया शुरू की किंतु 1984 में योजना के परित्यक्त हो जाने के बाद अधिग्रहण की प्रक्रिया स्वतः समाप्त हो जाती है।' केवल इतना ही नहीं बल्कि अधिग्रहीत ज़मीनों पर उसके मालिक ही काबिज़ रहे। वह इस ज़मीन पर खेती करते रहे और उसका कर भरते रहे और कुछ लोगों ने इस ज़मीन के आधार पर कर्ज़ भी लिया। इस सबका रिकॉर्ड राजस्व विभाग की फाइलों में दर्ज है। यानी अधिग्रहण के बाद भी ज़मीन की मिल्कियत किसानों के पास ही रही। इस संबंध में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि यदि भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया किसी कारण से समाप्त हो जाती है तो चाहे उस व्यक्ति ने मुआवज़ा ले भी रखा हो तो भी भूमि अधिग्रहण कानून 1894 की धारा 48 (2)

के अंतर्गत ऐसे व्यक्ति को जो मानसिक व आर्थिक क्षति पहुंची है उसके लिए सरकार उसे मुआवज़ा देने के लिए बाध्य है। इन्हीं सब आधारों पर डूब क्षेत्र में आने वाली सोनभद्र की सभी ग्राम सभाओं ने कनहर बांध के विरोध में पहले से ही प्रस्ताव पारित कर रखा है। इन सभी ग्राम सभाओं ने अपने प्रधानों के माध्यम से इलाहाबाद उच्च न्यायालय में एक याचिका (67043/2011) भी दायर कर रखी है।

कनहर बचाओ आंदोलन से जुड़े पीयूसीएल के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एवं वरिष्ठ अधिवक्ता रवि किरन जैन कहते हैं कि 'कनहर बांध सिर्फ गैर कानूनी ही नहीं बल्कि असंवैधानिक भी है। 73वें संविधान संशोधन के बाद अब ग्राम सभाएं उतनी ही महत्वपूर्ण संस्थाएं बन गयी हैं जैसी संसद या विधानसभा। यानी कनहर क्षेत्र में भूमि सुधार, खेती के विकास या सिंचाई से संबंधित योजनाएं अगर बननी हैं तो यह ग्राम सभाओं का अधिकार क्षेत्र है। ये योजनाएं ग्राम सभाएं बनाएंगी न कि केंद्र या राज्य सरकार उन पर लादेगी। वास्तविकता है कि प्रभावित होने वाले गाँवों की ग्राम सभाओं ने सर्वसम्मति से बांध को नकार दिया है। ऐसे में परियोजना शुरू करना गैरकानूनी है। सरकार को नियमागिरि के अनुभव से सबक लेना चाहिए। यह परियोजना शुरू करना गाँव की चुनी हुई सरकार की संप्रभुता को चुनौती देना है और सरासर असंवैधानिक है।' केवल इतना ही नहीं है इन क्षेत्रों में लगातार पंचायत चुनाव होते रहे हैं, पंचायतें निर्माण एवं विकास कार्य करती रही हैं और इन इलाकों में मनरेगा जैसी योजनाएं भी लागू रही हैं।

इस स्थिति से आंख मूंदकर स्थानीय प्रशासन ने विधायक रूबी प्रसाद की अध्यक्षता में 'पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना' के मसले पर ग्रामीणों की सभा बुलाई। 16 जून 2014 को आयोजित इस सभा में हज़ारों लोग मौजूद थे। मंच पर आकर सभी ग्रामीण-आदिवासियों ने कनहर बांध के विरोध में बात रखी। इन वक्ताओं में वे ग्राम प्रधान भी मौजूद थे जिन्होंने बांध के विरोध में प्रस्ताव पारित कर रखा है। अंत में मुख्यमंत्री को संबोधित एक ज्ञापन भी प्रशासन को सौंपा गया। लेकिन जब इस सभा का कार्यवृत्त (मिनट्स) प्रधानों के पास पहुंचे तो वे चकित रह गये। कार्यवृत्त में सिर्फ सरकारी अधिकारी एवं विधायक के वक्तव्य थे। जनता के विरोध को कार्यवृत्त में जगह नहीं दी गयी थी। इससे साफ पता चलता है कि प्रशासन एवं सरकार एक कृत्रिम सहमति बनाने की कोशिश कर रहे हैं और सही मायने में वे प्रभावित लोगों से संवाद करना नहीं चाहते।

फिलहाल सोनभद्र में 'स्टैलमेट' है। प्रशासन अभी कुछ कहना नहीं चाहता। कनहर बचाओ आंदोलन की ओर से कई जगह परियोजना प्रस्ताव की प्रतियां जलाने का कार्यक्रम किया गया है। कनहर बांध की अजब दास्तान जारी है। तीन शिलान्यास, करोड़ों रुपये, विस्थापन की आशंका और सोनभद्र का पहले से ही घबराया हुआ पर्यावरण अपनी जगह कायम है। वरिष्ठ कार्यकर्ता ओ.डी.सिंह कहते हैं कि 'इस परियोजना की अगर कायदे से जांच हो तो एक बहुत बड़ा आर्थिक घोटाला सामने आ सकता है।'।

सराज की देऊली प्रथा

■ तेजसिंह ठाकुर

सराज एक छोटा सा भू-भाग है जो कि हिमाचल प्रदेश के कुल्लू और मंडी जिले में स्थित है। यहां के निवासियों को सराजी कहते हैं साथ में यहां की बोली, वेशभूषा एवं खान-पान को भी सराजी कहा जाता है। सराजी लोग बेहद ईमानदार, मेहनती तथा संगीत और नाच के प्रेमी हैं। मेहमाननवाजी तथा नाच-गान के लिए यहां के निवासी अपने महत्वपूर्ण कार्य भी छोड़ देते हैं। यहां के जनजीवन को जो एक कड़ी में जोड़ता है वह यहां की देऊली प्रथा है। भले ही वर्तमान में नई पीढ़ी के लोग इसे बेकार और 'Outdated' समझते हैं, मगर वे इसका महत्व नहीं जानते और बहुत सारे न चाहते हुए भी इसमें शामिल होते हैं। क्योंकि इसका स्वरूप ही ऐसा है कि आप इससे अछूते नहीं रह सकते हैं। यह सराज की एक महत्वपूर्ण साझी विरासत है तथा यहां के निवासियों की जीवन की धड़कन है। यह कब से चली है यह कहना या अनुमान लगाना बहुत कठिन है।

देऊली वैसे तो एक सामाजिक ढांचा है और यहां की व्यवस्था भी है। जैसे कि वर्तमान में पंचायत। मगर इसे कई रूपों में देखा जाता है। एक निश्चित क्षेत्र की एक देऊली होती है और कई जगह एक देऊली में कई छोटी-छोटी देऊलियां होती हैं। बड़े क्षेत्र को देऊल भी कहते हैं। जब यह व्यवस्था है तब इसका एक स्वरूप होता है। इसका मुखिया यहां का स्थानीय देवता माना जाता है जो कि हर देऊल में अलग-अलग होता है। मगर कई स्थानों पर एक देवता कई छोटी-छोटी देऊली या देऊल का मुखिया होता है। परंतु इसका मतलब यह नहीं कि छोटी देऊलियों का मुखिया कोई देवता नहीं होगा। उस स्थान पर वहां का स्थानीय देवता उस देऊली का मुखिया होगा चाहे वह 4-5 घरों की देऊली क्यों न हो। उदाहरण के लिए छुन्नार की अपनी देऊली है। उसमें केवल 15 परिवार हैं। और बड़े स्तर पर वे मराच की देऊली का हिस्सा है। देऊली का कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए कुछ व्यक्तियों को चुना जाता है जो कि अधिकतर स्थानों पर पुश्तैनी परिवारों से होते हैं। मगर वर्तमान में कई देऊलियों ने इनका निर्वाचन सर्वसम्मति से खास परिवारों के बाहर भी किया। जो कि लोकतांत्रिक विधि से किया। इसके पदाधिकारी कारदार

की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। पुराने समय से ही कारदार की सहायता के लिए कायथ दरोगा, भंडारी, कथीयाला, पालसरा, धामी और जैलता होते हैं। अधिकतर ये सब निश्चित परिवारों के सदस्य होते हैं मगर कई जगह अब आम लोगों में से भी ये बनाए जाने लगे हैं। बड़े खेद का विषय यह है कि अभी भी यह सब तथाकथित उपरी जाति से संबंध रखते हैं। केवल जेलता ही एक ऐसा पदाधिकारी है जो उच्च जाति से संबंध नहीं रखता। यह वाद्ययंत्रों एवं बाजीगरों की देखभाल और इंतज़ाम करता है। कई जगह अब यहां इस परंपरा में सुधार हुआ है तथा निम्न जातियों को देऊली कमेटियों में उचित स्थान दिये गये हैं। पुजारी और गुरु निश्चित परिवारों से आते हैं जो पुश्तैनी होते हैं। सब देऊलियों में इनकी नियुक्ति के हिसाब से इन्हें ही स्थायी कह सकते हैं।

देऊली की इस कमेटी का कार्य समय-समय पर देऊली को छोटे-छोटे तथा बड़े कार्यों को करने के लिए मीटिंग करना, अगर कोई महत्वपूर्ण मुद्दा आ जाए तो ये लोग पूरी देऊली की एक आम सभा बुलाते हैं। इसे यहां की भाषा में झाड़ा कहते हैं। और जो भी फैसला झाड़ा लेता है वह सर्वमान्य होता है। अधिकतर इसमें फैसला सर्वसम्मति से होता है। झाड़े के लिए कारदार, जेलते के माध्यम से सबको सूचित करता है। जेलता निश्चित स्थान से सुबह नगारा (नगाड़ा) बजाता है इससे सबको मालूम हो जाता है कि उस दिन झाड़ा है। इसका आयोजन आमतौर पर देवता मंदिर के आंगन में किया जाता है जिसे यहां की भाषा में सोह कहते हैं। सोह यहां का सामूहिक आंगन माना जाता है। अगर किसी बात पर सहमति नहीं बन पाती है तो देवता की राय ली जाती है। यह राय गुरु के माध्यम से या देवता के सम्मुख पर्ची डालकर ली जाती है जो फिर सर्वमान्य होती है। यही झाड़ा और देऊली कमेटी ही अन्य देऊलियों से अपनी देऊली के संबंधों को भी परिभाषित और सुदृढ़ करती है। देऊली के कार्यों को संपन्न करने के लिए जो चंदा लिया जाता है उसे सुंड कहते हैं। यह मुद्रा या पैसे के रूप में होती है। कई बार यह सुंड अनाज और सोने-चांदी के रूप में भी होती है। मसलन अगर कोई धाम (प्रीति भोज) देऊली की तरफ

से आयोजित किया जाता है तब पैसो के अलावा अनाज के रूप में और अगर देवमूर्तियों या वाद्ययंत्र बनाने हों तो सोने या चांदी के रूप में ये दी जाती है। यह सब परिवारों को बराबर देनी पड़ती है। सोने चांदी तथा धन के रूप में दी जाने वाली सुंड बाजीगरों से नहीं ली जाती है। कई देऊलियों में ये सुंड संपन्नता के आधार पर दी जाती है। उदाहरण के लिए टील (मराच) की देऊली में 1998 में देवते के सोने के छत्र बनाने के लिए लोगों ने आय अनुसार सुंड दी थी तथा गरीबों से सुंड नहीं ली थी। यह सुंड आमतौर पर कारदार और भंडारी के पास रहती है। अब लोग इसे बैंकों में भी रखते हैं। पारदर्शिता के लिए इसमें काइथ और दरोगा भी इसका हिसाब रखते हैं। पुराने समय में यह स्थानीय न्याय की व्यवस्था भी करती थी परंतु आज के दिनों में यह अधिकतर देऊली संबंधी कार्य करती है।

देऊली यहां के जीवन की धड़कन भी है। यहां जब भी कोई आयोजन किसी के घर में होता है उसे भी देऊली कहते हैं। क्योंकि इसमें स्थानीय देवता की शिरकत आवश्यक है। विवाह शादी को देऊली नहीं कहते मगर स्थानीय देवता का इसमें भाग लेना आवश्यक है। यहां के स्थानीय छोटे-छोटे मेलों को भी देऊली कहते हैं। बड़े मेलों को जाच कहते हैं। कई बार एक देऊली दो विभिन्न क्षेत्रों में फैली होती है। जैसे कि देवता भुमासी की देऊली कुल्लू के सराज और मंडी की घाचाधार पंचायत में और देवता शगचुल की शाघड, शैशर, मोहनी और मराच के इलाकों में फैली है। देऊली लोगों के आपसी मिलन और भाईचारे का एक महत्वपूर्ण स्थान भी है। देऊली व्यवस्था का नकारात्मक पहलू यह है कि देऊली कमेटी में महिलाओं की राय नहीं ली जाती है न ही उन्हें कमेटी का सदस्य चुना जाता है यह प्रथा पूर्व से चली आ रही है। लेकिन अब पंचायती राज व्यवस्था व महिला मंडलों और प्रगतिशील विचारकों की सहायता से यदा-कदा महिलाएं अपनी आवाज़ उठाती हैं। देऊली जहां स्थानीय व्यवस्था को संभालती है वहीं अन्य देऊलियों से संबंध मज़बूत करने के लिए दूसरी देऊलियों को अपने यहां बुलाती भी है। इसे स्थानीय बोली में हारगी कहते हैं। ये हारगियां आमतौर पर स्थानीय मेलों के दौरान होती है। तथा इसमें निमंत्रण हमेशा देवता के नाम से दूसरे देवता को दिया जाता है। जो मेहमान कारदार अपने जेलते के माध्यम से मेहमान कारदार को भेजता है। जो उसका उत्तर अपने जेलते के माध्यम से भेजता है। अतिथि देवता अपनी पूरी हारियान के साथ आता है। हारियान यहां के पूरे देऊल के निवासियों को कहते हैं। मेजबान हारियान अतिथि हारियान का स्वागत करते हैं तथा अपने

घर ले जाते हैं। अतिथि हारियान को यहां के परिवारों के हिसाब से बाँटा जाता है। तथा सबको बराबर खिंडू (मेहमान) दिये जाते हैं तथा इनको बिना भेदभाव के बाँटा जाता है। इनके खाने-पीने और रहने की व्यवस्था मेजबान खिंडू करता है। हारगी में मेजबान व अतिथि दोनों को यहां की भाषा में खिंडू कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे देऊल भी अपने मेजबान को मेहमान बुलाते हैं परंतु वहां पर उसका खिंडू वहां की व्यवस्था के अनुसार होगा। कई देऊलियों में खिंडू पुश्यों से एक परिवार का दूसरा परिवार स्थायी रूप से होता है। जैसा कि शाघड और टील, पेड़चा और थुरास के खिंडू स्थायी हैं। हारगी के अलावा देवता जब दूर के स्थानों का दौरा करता है तब वह रास्ते में आने वाली देऊलियों में रात्रि विश्राम के लिए बैठता है और वे देऊलियां मेहमानों को खिंडू के रूप में स्वागत करती हैं। ये प्रथा खिंडी प्रथा कहलाती है। तथा यहां मेलजोल को बढ़ाती है। सराज की प्रचलित यह देऊली प्रथा यहां के समाज को आज भी जोड़े हुए है तथा अपनी अनेक कमियों के बावजूद भी यहां के जीवन को हर्षमय बना रही है तथा इसे ईमानदारी और सादगी से मिलजुल कर रहने की याद दिलाती हुई आगे बढ़ रही है। सराजी जीवन की कल्पना बिन देऊलियों के नहीं की जा सकती है। ये देऊलियां इनमें कई आयाम जोड़ रही हैं और बुराइयों में अपने आप सुधार कर रही हैं इसका अपना तरीका व निरंतरता है। यहां देऊलियां समय के साथ अपने रूप में भी परिवर्तन कर रही हैं। सब सराजी देऊलियों में अपनापन देखते हैं। देऊलियों में मेलजोल, नाच, संगीत, साथ खानपान और दुख-सुख की बातें करना सराजियों की संस्कृति है। यहां सभी कार्य सहकारिता से मिलजुल कर किये जाते हैं चाहे वह घरेलू कार्य हो या देवता का निर्माण संबंधी कार्य। इसमें देऊली प्रथा को मज़बूत करने के लिए महिलाओं तथा तथाकथित दलित समाज के प्रतिनिधियों को उचित स्थान मिलना चाहिए। यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि टील-मराच की देऊली में निम्न वर्ग के लोगों को उचित स्थान दिया गया है तथा उनको धन संबंधी फैसलों में भी शामिल किया गया है। महिलाएं जहां इन देऊलियों में बढ़-चढ़ कर भाग लेती हैं और घर में सारा आयोजन संबंधी कार्य करती हैं उन्हें भी देऊली कमेटी में फैसला करने में शामिल किया जाना चाहिए। क्योंकि देऊली कमेटियों को छोड़कर अन्य सभी जगह सराज में महिलाओं का आदर और सम्मान है। इसलिए यह ज़रूरी है कि हम सब पितृसत्ता के विकारों से ऊपर उठकर महिलाओं को भी इन कमेटियों में शामिल करें। इससे हमारी देऊली प्रथा और व्यवस्था और भी लोकतांत्रिक और मज़बूत होगी।

संकीर्णता की साँकल

■ अपूर्वानंद

हिंदुओं को आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता है। अपने भीतर झांकने की, खुद को टटोलने की। यह बात अधिकतर हिंदुओं को अटपटी जान पड़ती है, क्योंकि अपने बारे में उनके खयाल बहुत ऊंचे हैं। लेकिन आज एक शोधार्थी ने, जिन्हें किसी भी कोण से पतित धर्मनिरपेक्षतावादी नहीं कहा जा सकता, लिखा है कि दूसरे धर्मों पर अंगुली उठाने के पहले हिंदुओं को सोचने की आवश्यकता है कि क्यों उनके बीच जाति-व्यवस्था बनी हुई है। क्यों कोई शंकराचार्य आदि-शंकराचार्य की तरह तूफान नहीं खड़ा कर देता, हिंदू मतावलंबियों को उनके पाखंड के प्रति सचेत क्यों नहीं करता, क्यों नहीं उन्हें फटकार लगाता कि वे अपनी बेटियों को दान करना बंद करें, कि वे भ्रूण में ही उन्हें न मार डालें, कि वे ईश्वर के बनाए मनुष्यों के बीच अन्यायपूर्ण भेदभाव की व्यवस्था का ध्वंस करें।

हेरानी होती है, जब हिंदुओं को कहते सुनते हैं कि मुसलमान पिछड़े हुए हैं और उन्हें आधुनिक बनने की आवश्यकता है। कुछ साल पहले गणेश के चित्रों और प्रतिमाओं को मुसलमान या ईसाई दूध नहीं पिला रहे थे। यह नहीं कहा जा रहा कि मूर्खता सिर्फ हिंदुओं के खाते है, लेकिन वे इससे अछूते नहीं, इतना अहसास तो उन्हें होना ही चाहिए। कुछ का कहना है कि इस प्रकार के विश्वास उतने घातक नहीं, जितना जातिगत भेदभाव है।

शिक्षा संस्थानों में पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की घोषणा जब की गई, उच्च जाति के हिंदुओं ने कहना शुरू किया कि जाति तो अब खत्म हो रही है, इसकी चर्चा उठाना एक पुराना राग छेड़ना और समाज को बांटना है। उसी समय जब आल इंडिया मेडिकल

साइंसेज के हॉस्टल में दलित छात्रों के साथ हिंसक बर्ताव की खबर सुन कर हम वहां गए तो हॉस्टल की दीवारों पर दलित-विरोधी गालियां देख कर हतप्रभ रह गए। संभ्रांत माने जाने वाले, देश के सबसे प्रतिभाशाली हिंदुओं की भाषा में उनके चरित्र की गिरावट की अभिव्यक्ति थी, लेकिन इसे लेकर कोई शर्मिंदगी नहीं थी।

जिस घटना की जांच करने हम गए थे उस पर बात करने के साथ कुछ वरिष्ठ अध्यापक यह समझाने लगे कि संस्थान में जाति का तो नाम ही किसी ने नहीं सुना था, जब तक कि आरक्षण की घोषणा नहीं की गई थी। जांच आगे इसलिए नहीं चल पाई कि जिन दलित छात्रों ने शिकायत की थी वे फिर संपर्क में ही नहीं रहे। कुछ अध्यापकों ने बताया कि उन्हें बुला कर धमकाया गया था कि क्या उन्हें अपना करिअर बर्बाद करना है!

जिन्हें यह गुमान है कि जातिगत भेदभाव पुराने जमाने का किस्सा भर रह गया है, उन्हें नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकॉनॉमिक रिसर्च और यूनिवर्सिटी ऑफ मेरीलैंड के सर्वेक्षण का अध्ययन करना चाहिए, जो देश भर के बयालीस हजार घरों को आधार बना कर किया गया। इससे मालूम होता है आज के विकासतुर भारत में पैतीस प्रतिशत हिंदू अब भी अस्पृश्यता का पालन करते हैं। इनमें सबसे बड़ा हिस्सा ब्राह्मणों का है, यानी बावन प्रतिशत। पिछड़ी जाति और अनुसूचित जाति के लोग भी छुआछूत बरतते हैं और जैन या सिख पीछे नहीं हैं। हिंदुओं से होकर यह बीमारी मुसलमानों में भी घुस गई है। लेकिन बीमारी का स्रोत हिंदू धर्म के भीतर है, यह मानने के लिए बहुत प्रतिभा की

कांचा इलैया ने हाल में एक लेख में बताया है कि एक केंद्रीय विश्वविद्यालय ने एक ब्राह्मण अध्यापक को अपना कुआं खोदने की इजाजत दी, क्योंकि वे हर किसी के स्पर्श से दूषित म्युनिस्पैलिटी के नल का पानी नहीं पी सकते थे। मैसूर से पैतीस किलोमीटर दूर कुप्पेगाला के स्कूल में, जहां से कर्नाटक के प्रगतिशील, समाजवादी माने जाने वाले मुख्यमंत्री पढ़े हैं, ऊंची जाति के गाँव वालों ने उपद्रव कर दिया, क्योंकि बच्चों का दोपहर का खाना दलित के हाथों बन रहा था।

आवश्यकता नहीं।

इससे दिलचस्प इस पर आने वाली कुछ प्रतिक्रियाएँ हैं। वे इस सर्वेक्षण को झुठलाने के लिए खाने-पीने की आदतों, चौके आदि में साफ-सफाई के खयाल, निजी निर्णय आदि के तर्क के सहारे साबित करना चाहती हैं कि सर्वेक्षण पूर्वग्रहग्रस्त है। कुछ इससे तसल्ली कर लेना चाहते हैं कि अन्य धर्मों के लोगों में भी यह पाया जाता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस भेदभाव भरे देश में इस्लाम के समानता के संदेश के आकर्षण की चर्चा की थी। लेकिन हिंदू धर्म की जाति-व्यवस्था ने इस्लाम का ही नहीं, ईसाइयत का भी भारतीयकरण कर डाला और उनके भीतर के बराबरी के वादे की धार कुंद कर दी। कहा जा सकता है कि यहां इस्लाम और ईसाइयत हिंदू धर्म के हाथों पराजित हुई। लेकिन यह एक ऐसी जीत है, जिसके लिए विजेता को लज्जित होना चाहिए।

हर समाज और धर्म में भेदभाव रहा है, लेकिन उससे लड़ने की इच्छा के बिना वह खत्म नहीं हुआ है। उसके लिए पहले उसको स्वीकार करना पड़ता है। हिंदू समाज की एक बड़ी दिक्कत यह है कि वह इस यथार्थ को स्वीकार ही नहीं करता। सतीश देशपांडे कहते हैं कि ऊंची जाति के लोगों के लिए जाति-श्रेष्ठता इस हद तक स्वाभाविक हो चुकी है कि जाति अब उनके लिए अवश्य ही रहे तो अच्छा है। इसलिए वे जाति की कोई चर्चा ही नहीं चाहते और ऐसा करने वालों पर ही समाज में कटुता फैलाने का आरोप लगाते हैं।

कांचा इलैया ने हाल में एक लेख में बताया है कि एक केंद्रीय विश्वविद्यालय ने एक ब्राह्मण अध्यापक को अपना कुआं खोदने की इजाजत दी, क्योंकि वे हर किसी के स्पर्श से दूषित म्युनिस्पैलिटी के नल का पानी नहीं पी सकते थे। मैसूर से पैंतीस किलोमीटर दूर कुप्पेगाला के स्कूल में, जहां से कर्नाटक के प्रगतिशील, समाजवादी माने जाने वाले मुख्यमंत्री पढ़े हैं, ऊंची जाति के गाँव वालों ने उपद्रव कर दिया, क्योंकि बच्चों का दोपहर का खाना दलित के हाथों बन रहा था।

ओड़िशा के एक गाँव से भी यह खबर आई कि ब्राह्मण माता-पिताओं ने अपने बच्चों को दलित के हाथ का बनाया खाने से मना किया। ऐसी खबरें हिमाचल प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश और राजस्थान से भी आती रहती हैं। लेकिन उनमें सनसनी नहीं होती और उनको सुन कर किसी का खून नहीं उबलता। अब तो

अधिकारी वर्ग इतना चतुर हो गया है कि वह पहले ही गाँव वालों की भावनाओं का खयाल रखते हुए सही जाति के रसोइए का इंतजाम कर लेता है।

कांचा कहते हैं कि जो माता-पिता अपने बच्चों को अस्पृश्यता की शिक्षा दे रहे हैं, उन्हें अपराध का बोध कराना फौरन जरूरी है। वे कहते हैं कि क्या कोई नेता 'दलित का बनाया ही खाओ' जैसा आंदोलन चला सकता है?

अगर हिंदू फिर शत्रुमुर्ग की तरह इस तर्क की ढाल के पीछे छिपना चाहते हैं कि यह दूसरे धर्मों में भी है, तो उन्हें इसका उत्तर देना होगा कि उनके धर्मशास्त्र में इसका विधान क्यों है? पहले उन्हें कबूल करना होगा कि इस भेदभाव को उनके शास्त्रों की मान्यता है और उन शास्त्रों से खुद को अलग करना होगा। लेकिन एक दूसरी चतुराई, जो अक्सर हिंदुओं ने की है, वह यह कि वे कहते हैं कि अब वे ग्रंथ उनके लिए प्रासंगिक ही नहीं हैं, इसलिए वे उन्हें अस्वीकार करने या उनसे अलगाव की घोषणा की आवश्यकता ही नहीं समझते।

अगर जाति अब प्रासंगिक नहीं तो ब्राह्मण बनाने का पूरा आयोजन, यज्ञोपवीत आदि क्यों? जब तक इस देश में एक घर में भी ब्राह्मण बनाने की परिपाटी रहेगी, जाति-भेद और हिंसा रहेगी। इस प्रथा को पोलियो की बीमारी की तरह ही समझना होगा, अगर एक बच्चा भी टीकाकरण से रह गया, तो पोलियो की बीमारी पूरे देश को ग्रस सकती है। इस देश का दुर्भाग्य यह है कि आधुनिक युग में गांधी और पेरियार जैसे दूसरे लोग पैदा न हुए।

हिंदू धर्म को खुद से लड़ने की आवश्यकता है। अपनी असुरक्षा और घृणा से। उसका स्रोत उसके भीतर है, उसकी बनावट में। जब तक वह शत्रु की तलाश बाहर करता रहेगा और उनसे युद्ध करता रहेगा, कमजोर ही बना रहेगा। उसे पूछने की आवश्यकता होगी कि क्यों उसके भीतर धर्म के अर्थ को लेकर ही वैसी बहस नहीं है, जैसी इस्लाम या ईसाई धर्मों में है। क्यों उसके भीतर किसी प्रकार का आधुनिक मुक्तिकारी अध्यात्म नहीं उभरा, जो अन्य धर्मावलंबियों को भी अपनी ओर खींचे? हिंदुओं ने अपने पूर्वजों के धर्म में क्या जोड़ा है, जो उनका पैदा किया है, जो नया है? हिंदू धर्म का राष्ट्रीयकरण करके उसकी सीमा बांधने के अलावा किया क्या है उन्होंने?

कहां है किसानों का पैसा

■ देविंदर शर्मा

पिछले दिनों एक टीवी चैनल पर तत्कालीन रेलवे मंत्री पवन कुमार बंसल को उनके बेटे की फर्म से 15 लाख रुपये का ऋण मिलने पर चर्चा चल रही थी। एक टी.वी. एंकर ने पूछा, 'किसी को महज तीन प्रतिशत की दर पर ऋण कैसे मिल सकता है?'

शायद वह एंकर नहीं जानता था कि वित्तमंत्री पी. चिदंबरम ने मालामाल और संसाधनों से लैस कृषि-व्यापार कंपनियों को गत वित्तीय वर्ष में केवल चार प्रतिशत की दर से 6.5 लाख करोड़ रुपये का कृषि ऋण दिलवाया है। 2013 का बजट पेश करते हुए पी. चिदंबरम ने घोषणा की थी कि इस साल कृषि ऋण के लिए सात लाख करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया है। निश्चित तौर पर 2012-13 में कृषि क्षेत्र के लिए जारी किये गये पौने छह लाख करोड़ रुपये को देखते हुए यह ऊंची छलांग है।

इससे पहले 2011-12 में पौने पांच लाख रुपये कृषि ऋण का प्रावधान था। इससे आभास होता है कि सरकार किसान छोटे और मझोले किसानों की हमदर्द है। सन 2000 से 2010 तक कृषि ऋणों में 755 प्रतिशत की जबरदस्त वृद्धि हुई है।

दैनिक जागरण में एक चौंकाने वाली खबर प्रकाशित हुई, जो हमें बताती है कि पैसा जा कहां रहा है। वित्त मंत्रालय के एक दस्तावेज़ के अनुसार पिछले पांच साल में कृषि ऋण में ढाई गुना बढ़ोतरी के बावजूद छोटे और

सीमांत किसानों को कुल संस्थागत ऋण का छह प्रतिशत से भी कम दिया गया है। इस पर तुरंत यह कि वित्तमंत्री से लेकर प्रधानमंत्री तक देश को यह बताते नहीं थकते कि सरकार छोटे और सीमांत किसानों के लिए कितना कुछ कर रही है।

दूसरे शब्दों में कुल सात लाख करोड़ रुपये में से पचास हजार करोड़ से भी कम ज़रूरतमंद किसानों को मिलेगा। शेष 6.5 लाख करोड़ रुपये कृषि व्यापार कंपनियों, भंडारण निगमों और राज्य बिजली बोर्डों को चार प्रतिशत की दर पर दे दिया जाएगा। असल में यह ऋण घोटाला भारत में होने वाले तमाम घोटालों की मां है। 2जी स्पेक्ट्रम, कोयला आवंटन और राष्ट्रमंडल खेलों में कुल घोटाले भी इस ऋण घोटाले के सामने बौने ठहरते हैं।

पिछले 15 सालों में 2.90 लाख किसान आत्महत्या कर चुके हैं और 42 प्रतिशत किसान खेती छोड़ने के कगार पर हैं। इस संकट से उबारने के लिए किसानों को निम्न ब्याज़ दरों पर ऋण मुहैया कराने की सख्त ज़रूरत है, किंतु गरीब किसानों को ऋण देने के बजाय सरकार उनके नाम पर जारी राशि को बड़े उद्योगपतियों को नाममात्र की ब्याज़ दरों पर बांट देती है।

2007 में बैंकों द्वारा दिये गये कृषि ऋणों में छोटे किसानों की हिस्सेदारी महज 3.77 प्रतिशत थी। दूसरे शब्दों में 96.23 प्रतिशत कृषि ऋण बड़े किसानों या कृषि व्यापार कंपनियों को दे दिये गए। 2011-12 में

पौने पांच लाख करोड़ रुपये के ऋण वितरण के लक्ष्य से भी अधिक 5,09,000 करोड़ रुपये वितरित किये गए और इसमें से महज 5.71 प्रतिशत ही छोटे किसानों को मिला। पिछले कुछ वर्षों के दौरान यह सुनिश्चित करने के लिए कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक वरीयता क्षेत्र को ऋण देने के 18 प्रतिशत के लक्ष्य की पूर्ति कर सकें, सरकार ने कृषि क्षेत्र की परिभाषा का विस्तार करते हुए इसमें बैंकों के जरिये कृषि व्यापार कंपनियों को दिये जाने वाले अप्रत्यक्ष ऋणों को भी शामिल कर लिया।

2000 से पहले भी सरकार ने कृषि ऋणों में ड्रिप सिंचाई उपकरण निर्माण कंपनियों और कुछ अन्य कृषि व्यापार कंपनियों को कृषि ऋण की पात्रता सूची में शामिल कर लिया था। बाद में ग्रामीण विद्युत कंपनियों, कृषि क्लिनिकों, भंडारण निगमों, कोल्ड स्टोर और मंडी के शेड निर्माण में निवेश करने वाली कंपनियों और यहां तक कि बिचौलियों व दलालों को भी इस सूची में जोड़ दिया गया।

टाटा इंस्टीट्यूट ने एक अध्ययन में पता लगाया कि सन 2000 से 2006 के बीच प्रत्यक्ष वित्त पोषण 17 प्रतिशत की दर से बढ़ा और अप्रत्यक्ष ऋण 32.9 प्रतिशत की चौंकाने वाली दर से। दिलचस्प आंकड़ा यह है कि 2006 में जारी किये गए कुल ऋणों में 25 करोड़ रुपयों से अधिक के ऋण की दर 54 प्रतिशत थी। वे कौन से किसान हैं जिन्हें 25 करोड़ रुपये के ऋण की ज़रूरत है? यही प्रमुख कारण है कि 2008 में महाराष्ट्र में दिये गए कुल कृषि ऋणों का 42 प्रतिशत मुंबई के बैंकों ने जारी किया है।

2009-10 में दिल्ली और चंडीगढ़ में दिये कृषि ऋण उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड और पश्चिम बंगाल को दिये गए कुल ऋणों से भी अधिक थे। इसी कारण छोटे किसान बर्बादी के कगार पर पहुंच गए हैं। उनके सामने ऊंची ब्याज दरों पर महाजनों से ऋण लेने के अलावा कोई चारा नहीं रह गया है। इसीलिए किसानों की मौत का तांडव थमने का नाम नहीं ले रहा है।

हमें बार-बार बताया जाता है कि कृषि ऋण कृषि उत्पादन, उत्पादकता बढ़ाने और किसानों की दुर्दशा दूर करने में अहम भूमिका निभाते हैं। पिछले एक दशक में ऋणों के वितरण पर उद्योग संगठन एसोचेम के एक

अध्ययन में कहा गया है कि कृषि ऋण दिशाहीनता के शिकार हैं।

बैंकों द्वारा अप्रत्यक्ष ऋण जारी करने का अनुपात बुरी तरह गड़बड़ाया हुआ है। ब्याज दरों में छूट का लाभ अन्य क्षेत्रों को मिल रहा है। कृषि और फसल के आकार तथा ऋण राशि में असंतुलन है और संस्थागत ऋण के दायरे से छोटे और सीमांत किसान बाहर कर दिये गए हैं। यह नीति कृषि क्षेत्र की बड़ी समस्या बन गयी है।

अगर आपने एसोचेम की रिपोर्ट के अंतिम बिंदु पर गौर फरमाया हो तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि संस्थागत ऋण प्रणाली अपने उद्देश्य में क्यों विफल है। कृषि क्षेत्र के छोटे और सीमांत किसानों को दरकिनार करके सरकार उन लोगों तक लाभ पहुंचाने में बुरी तरह विफल हो गयी है, जिनके लिए यह योजना लागू की गयी थी। भारत का रिज़र्व बैंक इस अनियमितता का मूकदर्शक कब तक बना रहेगा? यह क्रूर चूक है या फिर सुनियोजित कार्यक्रम?

यह बड़ा कृषि ऋण घोटाला ऐसे समय सामने आया है, जब नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक ने 2009 के बजट में 74,000 करोड़ रुपये की ऋण माफी में भारी अनियमितताओं और भ्रष्टाचार को उजागर किया है। कृषि ऋण की समूची प्रक्रिया को संदेह के घेरे में रखते हुए कैंग रिपोर्ट कहती है कि करीब आठ से दस प्रतिशत यानी करीब 35.5 लाख पात्र किसानों को इस योजना का लाभ नहीं मिल पाया है, जबकि लगभग इतनी ही संख्या ऐसे किसानों और बड़ी कंपनियों की है, जो इस छूट के हकदार न होने के बावजूद ऋण लेने में सफल रहे। बड़ी संख्या में कुपात्र किसानों ने ऋण चुकाने की ज़हमत भी नहीं उठाई।

असलियत में, धनी और ताकतवर कंपनियां छोटे और सीमांत किसानों के लिए लागू कृषि ऋण योजना को दुह रही हैं। भारतीय रिज़र्व बैंक, नेशनल बैंक ऑफ एग्रीकल्चर एंड रूरल डेवलपमेंट तथा वित्त मंत्रालय भारत के संभवतः सबसे बड़े घोटाले में सहयोग दे रहे हैं।

साभार : The Journalist

संघर्ष जो अभी ठहरा नहीं है...

■ सुरेन्द्र रावत

कोई संघर्ष आखिरकार कितना लंबा हो सकता है, और रास्ता वह जिस पर आजादी से पहले महात्मा गांधी चले थे। जिसे अपनाया इरोम चानू शर्मिला ने, जो मात्र एक नाम नहीं बल्कि संघर्ष, धैर्य और जीवटता का पर्याय है। संघर्ष जो अभी ठहरा नहीं है, धैर्य जिसकी परीक्षा निरंतर जारी है और जीवटता की मिसाल ऐसी अनोखी जिसके सामने भूख भी नतमस्तक हो गई और इरोम साल-दर-साल और ज्यादा दृढ़ निश्चयी होने के प्रतिमान गढ़ते नजर आती है।

मणिपुर में आयरन लेडी (लौह महिला) के नाम से पुकारी जाने वाली इरोम चानू शर्मिला का भूख हड़ताल द्वारा जारी संघर्ष नवंबर माह में 14 साल पूरे कर 15 वें साल में प्रवेश कर गया है। जो मणिपुर और पूर्वोत्तर के ज्यादातर हिस्सों में लागू

सशस्त्र सेनाओं के विशेषाधिकारों से संबंधित 1958 में बने विवादास्पद कानून (आफ़्सा आर्म्ड फ़ोर्स स्पेशल पॉवर एक्ट) के खिलाफ मणिपुर में, वर्ष 2000 में अपने 28वें साल में शुरू किया गया। इन अधिकारों के तहत सैन्य बल बगैर किसी वारंट के किसी व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकते हैं और कुछ विशेष हालात में तो उन्हें गोली मारने का भी अधिकार है। सुरक्षाबलों को सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून के इस्तेमाल की छूट के तहत उनके खिलाफ कोई कानूनी कार्रवाई नहीं हो सकती। मानवाधिकार संगठनों का आरोप है कि इस कानून की आड़ में कई मासूम फर्जी मुठभेड़ों में मारे गए हैं।

इरोम शर्मिला के इस संघर्ष की शुरुआत साल 2000 में मणिपुर के अंदर दो नवंबर को मालोम कस्बे में बस स्टॉप पर 10 लोगों को कथित तौर पर असम राइफल्स के जवानों द्वारा मारे जाने के बाद हुई। मारे गये लोगों

में 62 वर्षीया वृद्ध महिला लेसंगबम इबेतोमी तथा बहादुरी के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित 18 वर्षीय सिनम चन्द्रमणि भी शामिल थीं। तीन और चार नवंबर को पूरे मणिपुर में कर्फ्यू लगा रहा। पांच नवंबर को इन हत्याओं के विरोध में इरोम शर्मिला भूख हड़ताल पर बैठ गईं। छः नवम्बर को इरोम शर्मिला को गिरफ्तार कर लिया गया। 20 नवम्बर तक शर्मिला को जेल में रखने के

बाद 21 नवम्बर को अस्पताल में एक सिक्कूरिटी वार्ड बनाकर नोजल फीडिंग करके उसे रखा जाता है। उसे धारा 309 (अटेप्ट टू कमिट सुसाइड) के अन्तर्गत बंद करके रखा गया है। प्रत्येक 15 दिनों में उसे कोर्ट ले जाया जाता है। कोर्ट से फिर आगे के लिए 15 दिनों का रिमांड ले

एक रिपोर्ट के मुताबिक, पिछले तीन दशकों (1979-2012) में मणिपुर के अंदर 1,528 आम नागरिक सशस्त्र बलों की गोलियों के शिकार हो चुके हैं। इन सभी मौतों के पीछे जो मुख्य कारण उभरकर सामने आता है, वह है आफ़्सा।

-एक्स्ट्रा ज्यूडिशियल एक्जिक्यूशन विक्टिम फेमिलीज एसोसिएशन ऑफ मणिपुर

(मणिपुर में कथित मुठभेड़ में मारे गए लोगों के परिजनों का समूह)

लिया जाता है और एक साल पूरा होने पर उसे कुछ दिनों के लिए छोड़ दिया जाता है क्योंकि धारा 309 के अंदर एक साल से अधिक किसी को जेल के अंदर रखा नहीं जा सकता। इसलिए एक साल पूरा होने पर उसे छोड़ दिया जाता है। इरोम को भूख हड़ताल के अपने 14वें वर्ष में 20 अगस्त 2014 को मणिपुर पूर्व की सत्र अदालत में न्यायाधिक हिरासत से आजाद करने का आदेश दिया गया। कोर्ट के आदेश के बाद इरोम को रिहा तो कर दिया गया लेकिन रिहाई के दूसरे ही दिन फिर से हिरासत में ले लिया गया। उन्हें इंफाल के जवाहर लाल नेहरू चिकित्सा विज्ञान संस्थान में नजरबंद रखा गया था।

इरोम की उम्र अब 42 का आंकड़ा पार कर चुकी है लेकिन कानून अब भी प्रदेश के कई इलाकों में जस का तस लागू है और विपरीत परिस्थितियों के बावजूद दृढ़ संकल्प इरोम की माँग वही अपनी ही शर्त में।

“मुझे लगता है मेरे साथ भेदभाव किया जा रहा है। महात्मा गांधी को अपनी असहमति जाहिर करने की स्वतंत्रता थी, तो भारत के नागरिक के तौर पर मुझे क्यों नहीं है? मुझे कैद में क्यों रखा गया है?”

-इरोम शर्मिला

जातिवाद के मेरे कुछ अनुभव

■ विशाल सिंह गौतम

मेरा नाम विशाल है। मैं इलाहाबाद जिले के सुराँव प्रखंड के सेवईत गाँव का रहने वाला हूँ। मैं एक दलित परिवार में पैदा हुआ। मेरे परिवार में थोड़ी सी खेती है। मेरे बाबा उसी ज़मीन और मजदूरी पर आश्रित थे। मेरे पिता ने अपने ननिहाल में रहकर पढ़ाई की और फिर सरकारी नौकरी में आ गए। इस लेख में मेरे जीवन की कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। जो मेरी याद में दर्ज हैं - इन घटनाओं से मैंने हिंदुस्तानी समाज के ग्रामीण परिवेश में जाति-व्यवस्था और उनके विभिन्न रूपों को जाना। उसका दोहरापन, अवसरवादिता, गाँव में धीरे-धीरे जड़ पकड़ता हिंदू कट्टरपंथ और साथ ही लोगों का प्रतिकार, जातीय अपमान या स्वाभिमान को ठेस लगने पर सुविधाओं व सेवाओं का बहिष्कार करना। इन सारे अनुभवों ने मुझे चीजों को, समाज को देखने का एक नजरिया दिया। क्या इसी समाज का सपना भगत सिंह, अंबेडकर या हमारे दूसरे शहीदों ने देखा था?

मेरी पैदाइश इलाहाबाद शहर के मटियारा मुहल्ले में हुई। यहाँ पर मेरा ननिहाल है। जब मैं शहर से गाँव आया तब मेरी उम्र 5 या 6 वर्ष की रही होगी। जहाँ गाँव में मेरा घर है। मेरे घर के पीछे मेरी बिरादरी (चमार) वालों का घर है। मेरे घर के सामने और बायीं तरफ मौर्या बिरादरी वालों का घर है।

गाँव के पास ही एक मिशनरी स्कूल है। जहाँ गाँव के सारे बच्चे पढ़ने के लिए जाते थे। वह मेरा स्कूल का पहला दिन था, जब मेरा परिचय स्कूल में पहले बच्चे से हुआ। वह मुझे कैसे जानता था यह बात मैं आज तक नहीं जान पाया। शायद हम लोग जिस सड़क से शहर से गाँव आये वह सड़क उसके घर के सामने से आती है या शायद मेरे परिवार की स्थिति के कारण क्योंकि

जब मेरे पिताजी पैदा हुए थे। उसी के कुछ दिनों के बाद मेरी दादी का देहान्त हो गया था। तब मेरे बाबा ने मेरे पिताजी को उनकी नानी के यहाँ पहुँचा दिया था। उनका पालन-पोषण वहीं पर हुआ। जब हम लोग पहली बार गाँव आये तो तांगे पर बहुत सारा गृहस्थी का सामान साथ लाए थे। इन सारी बातों की चर्चा

उसके परिवार में हुई हो। ये सारी बातें वह सुन रहा हो। उसने मुझे पहचान लिया हो और जब मैंने कक्षा में प्रवेश किया तब मुझे हंसते हुए अपने पास बुला कर बैठाया। यह बात मैं आज तक नहीं भुला सका, हम लोग साथ-साथ इण्टर तक पढ़े। जब तक हम साथ-साथ पढ़े तब तक हम एक दूसरे के घर नहीं गये। यह लड़का कलवार जाति का था।

सुबह मेरी बिरादरी के लोगों के घरों में एक महिला घर-घर खाना ले जाने के लिए बुलाने आ गयी। तब कुछ लोग खाना ले जाने के लिए अपने घरों से निकल कर सड़क तक पहुँच गये। ठीक उसी समय मेरे पिताजी खेत देखकर घर वापस पहुँचे ही थे। उन्होंने खाना बांटने वाली जगह पर पहुँचकर यह कह दिया कि “मोहल्ला म जेका खाना खियावै क शौक होइ व अपने घरे बोलाए के खियावै।”

तब मेरी उम्र 11-12 वर्ष की रही होगी, मेरे अपने घर में एक हैण्डपम्प लगा हुआ है, उसी में मुहल्ले के 25-30 परिवार के लोग पानी भरा करते थे, उस समय आस-पास तीन-चार कुएं थे। बहुत सारे लोग कुएं में पानी भर लिया करते थे। जब इन कुओं की रिपेयरिंग एवं खुदाई (गाद निकालना) नहीं हुई तब इन कुओं का पानी सूख गया। इसके बाद मेरे घर पर पानी भरने वालों की संख्या भी बढ़ गयी। इनमें मौर्या, पंडित और तेली परिवार थे। इनमें से कुछ लोग मेरे हैंडपम्प में पानी भरते रहते थे तब हैंडपम्प हम लोगों को छूने नहीं देते थे। मुझे और मेरी बिरादरी वालों को भी।

इसी दौरान मेरे गाँव में आरएसएस (राष्ट्रीय स्वयं

सेवक संघ) की शाखा लगने लगी। जिसे हमारे ही गाँव के एक व्यक्ति संचालित करते थे। वह रोज सुबह गाँव के रेलवे ग्राउण्ड में अपने साथ दो-चार बच्चों को लेकर पहुंच जाते और आते-जाते बच्चों को बुलाते रहते। जहां यह शाखा लगती उसी के आगे नहर पर रोज सुबह गाँव के लोग निवृत्त होने के लिए जाते। इस दौरान शाखा में खेलकूद खूब होता, इसी खेलकूद को देखकर तमाम बच्चे आकर्षित होकर उनके बुलावे पर वहां पहुंच जाते, इनमें से एक मैं भी था। अन्त में आपस में चर्चा होती। फिर सब लोग अपने-अपने घर को चले जाते। दो-तीन माह बीतने के बाद मेरी जाति के कुछ उम्र में मुझसे बड़े लोग भी शाखा में आने लगे। शाखा में चर्चा के दौरान जाति-धर्म की जाने कौन-सी बात हुई कि यह लोग नाराज हो गए। हमें शाखा में जाने से मना करने लगे। अन्ततोगत्वा हम लोग शाखा में जाना बन्द कर दिए। शाखा वाले हम लोगों को बुलाते इसलिए सुबह हम लोगों ने उस रास्ते से जाना ही बन्द कर दिया। कुछ समय बाद पता चला कि शाखा यहां से बन्द हो गई और गाँव के दूसरे कोने पर शाखा चलाने वाले के घर के पास चलती है।

हम लोगों का हाईस्कूल का बोर्ड का पेपर था। परीक्षा के लिए दूसरे स्कूल में जाना पड़ा। उस समय हम लोगों का एक दोस्त जो जाति का पटेल था, वह पास के बड़ैया गाँव में रहता था। वह रोज सुबह कालेज जाने के लिए हमारे गाँव में आधे घंटे पहले पहुंच जाता था। फिर हम लोग साथ-साथ पढ़ने के लिए जाते थे। हाई स्कूल का पेपर देने के लिए उसकी बुआ के यहां हम लोग रुके रहे। वह, मैं तथा हमारे दो साथी (एक चमार और एक पासी) साथ-साथ रुके रहे। मेरे दोस्त ने हमें समझा दिया था कि तुम लोग बुआ के घर वालों को अपनी जाति मत बताना। यहां पर परिवार के जैसा माहौल था। जब हम लोगों को खाना बनाने का मन न होता तो उन्हीं के यहां खा भी लेते थे। हमारे दोस्त ने हमें जाति बताने से मना क्यों किया या हम लोग जाति बता देते तो क्या तब भी हमें परिवार जैसा माहौल मिलता। तब शायद यह बात मेरी समझ में नहीं आई थी।

जब मैं इण्टर में पढ़ता था। स्कूल गाँव से लगभग नौ किलोमीटर दूर था। गाँव से 20-25 लड़के एक साथ पढ़ने के लिए निकलते थे। उसी दौरान एक मौर्या लड़के

के घर उसकी बहन की शादी पड़ी। उस लड़के ने मुझे भी शादी का न्यौता दिया। शाम को मैं भी उसके यहां पहुंच गया। जब मेरे सारे साथी खाना परोसने लगे, तब मैं भी उनके साथ खाना परोसने लगा। थोड़ी ही देर में मेरे साथियों में से एक मौर्या लड़का मेरे पास आया और धीरे से मुझे एक तरफ ले जाकर बोला कि तुम खाना मत परोसो। मैंने उससे पूछा क्यों न परोसूं? तब उसने मुझे बताया कि “जनते नहीं बुढ़ौनन के सारे सब जात-पात मानत थिन।” उस दिन पहली बार मुझे मेरी जाति का पता चला कि मैं चमार हूँ। मैं दावत से बिना खाये घर चला आया। बिना किसी को कुछ बताया। अपने घर में भी मैंने किसी को कुछ नहीं बताया।

इसके कुछ दिन बाद मेरे मोहल्ले में एक मौर्या के घर शादी पड़ी। सुबह मेरी बिरादरी के लोगों के घरों में एक महिला घर-घर खाना ले जाने के लिए बुलाने आ गयी। तब कुछ लोग खाना ले जाने के लिए अपने घरों से निकल कर सड़क तक पहुंच गये। ठीक उसी समय मेरे पिताजी खेत देखकर घर वापस पहुंचे ही थे। उन्होंने खाना बांटने वाली जगह पर पहुंचकर यह कह दिया कि “मोहल्ला म जेका खाना खियावै क शौक होइ व अपने घरे बोलाए के खियावै।” इसी के बाद खाना देने और खाना लेने वाले दोनों अपने-अपने घरों को चले गये। खाना बांटने वाले खाने का भगोना सड़क पर रख कर सबको खाना बांट रहे थे। इसको लेकर मोहल्ले में बहुत दिनों तक कानाफूसी होती रही। एक दो मौर्या परिवार के लोग मेरे पिताजी से एकदम नाराज हो गये। इन्हीं सब के दौरान मेरे पिताजी कुछ लोगों से कह रहे थे कि यदि कोई तुम्हारी जात पूछे तो उनसे कहा करो कि ‘क्या लड़का पसंद आ गया।’ इसी समय मुझे बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर के बारे में पिताजी और मुहल्ले के कुछ लोगों से जानने को मिला और कुछ खुद से पढ़ा।

मेरे गाँव से सुबह 8:15 पर एक ट्रेन शहर जाती है। उसी ट्रेन से गाँव के आसपास और गाँव के लोग तथा मजदूर काम करने के लिए शहर जाते थे। जब ट्रेन लेट होती तो वहीं चौराहे पर सभी लोग चाय की दुकान पर चाय पीते और बैठते। एक बार दुकानदार ने जात-धरम की कोई बात कह दी। तब ट्रेन से जाने वाले ज्यादातर लोगों ने उसकी दुकान पर चाय पीना

बन्द कर दी। इनमें मौर्या, पटेल, चमार, पासी आदि सारे शहर प्रतिदिन जाने वाले लोग शामिल थे।

तब दुकानदार को बहुत नुकसान हुआ। फिर बाद में दुकानदार ने बहुत मान-मनौवल किया और कहा कि ऐसी बात आगे नहीं होगी। तब धीरे-धीरे लोग उसकी दुकान पर फिर से चाय पीने लगे।

इस घटना के चार-पांच वर्ष बीतने के बाद हमारे गाँव सेवइत से इलाहाबाद जंक्शन के लिए सुबह सात बजे एक बस जाने लगी। यह बस प्राइवेट थी, जिसका किराया भी कम था। तब ज्यादातर मजदूर वर्ग के लोग बस से ही शहर आने और जाने लगे। शाम को वही बस शहर से गाँव आती थी। कुछ दिनों बाद पता चला कि सारे मजदूर बस से शहर जाना बंद कर दिए हैं। सुनाई पड़ा कि बाद में जो सवारियां बस में बैठती थीं वह मजदूरों को सीट से उठाकर खुद बैठ जाती थीं। कोई बीमार या बुजुर्ग बैठे तो ठीक है। यह बात कुछ लोगों को गलत लगी। इसी कारण सभी मजदूर बस से शहर जाना बंद कर दिए थे। बस के ड्राइवर-कंडक्टर बहुत कहते कोई न जाता। तब एक दिन बस के मालिक आकर मजदूरों से बात किए और वादा किया कि अब ऐसा नहीं होगा। तब जाकर मजदूर फिर से बस में आना जाना शुरू किए। इस बीच बस बहुत घाटे में जा रही थी क्योंकि बस से 80 प्रतिशत मजदूर ही शहर आता-जाता था।

सन 2013 की घटना है, हमारे गाँव में पिछले 8-9 वर्षों से दुर्गा-पूजा का पंडाल सजाया जाता है। जिसमें गाँव के ज्यादातर लोग शामिल होते हैं। नौ दिनों तक रोज एक नया पुजारी बनता है। वह एक दिन पूजा करता है। खास बात यह कि पुजारी वही बनता है जो एक हजार (1000 रुपये) देता है। इस बार पुजारी एक चमार बन गया। जब प्रसाद वितरण की बारी आयी तो एक ब्राह्मण महिला ने कहा कि मैं प्रसाद नहीं लूंगी। इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ। बात आयी गयी हो गयी। बहुत सारे लोग पंडाल में आना-जाना बंद कर दिए। दुर्गा पूजा कमेटी ने अपने से पहल नहीं किया कि फिर से किसी चमार को पुजारी बनाए और जो विरोध करे उसे ही पांल में आने से रोक दिया जाए।

यह बात इसी वर्ष सन् 2014 की है। इलाहाबाद

के मेजा तहसील में पिछले 5-6 वर्षों से एनटीपीसी कंपनी द्वारा कोयले से बिजली बनाने का उपक्रम लगाया जा रहा है। जिसका क्षेत्र के किसान और मजदूर विरोध कर रहे हैं। क्योंकि किसानों की जमीन बंजर बना कर, 90 हजार रुपये प्रति बीघे की दर से ले ली गयी। पास के पहाड़ पर 5 से 6 हजार मजदूर प्रतिदिन पत्थर तोड़ने का काम करते थे। उन्हें किसी तरह का न तो मुआवजा दिया गया और न ही काम। जहां कंपनी को 11सौ एकड़ जमीन लेने की परमिशन है। कंपनी 33 सौ एकड़ जमीन अधिग्रहीत कर रही है। इसी में 650 एकड़ भू दान का पहाड़ भी है।

यहां पर जाने का मौका कभी-कभी मुझे भी मिल जाता है। जब मैं पहली बार यहां के गाँव पवार का पूरा में रुका। तब जिस परिवार में रुका उन्हें अपनी जाति के बारे में बता दिया। वह यादव जाति के हैं। आस-पास आठ दस परिवार और हैं वह भी यादव ही हैं।

दूसरी बार जब एक निषाद (मल्लाह) परिवार के साथ रुका तब उन्हें भी अपनी जाति बताई। अभी तक सब ठीक चल रहा था।

तीसरी बार मैं एक आदिवासी (कोल) समुदाय के बीच रात में रुका। इसी के बाद जब मैं साथियों के साथ विभिन्न गाँवों में जाता तो एक साथी मेरा परिचय यह कहकर देते कि यह आपके ही जाति के हैं। मुझे यह भी पता नहीं था कि किस जाति वालों का मुहल्ला या पुरवा कहां पर है। मुझे बड़ा अटपटा लगता।

मैंने उनकी बातों का विरोध किया और कहा कि मेरा परिचय नाम से करायें न कि जाति से। उन्हें बताया कि मैं किस जाति का हूँ। तब उन्होंने ऐसा कहना बन्द किया।

इस पर रात में साथियों से बात की तो एक साथी ने कहा कि हम लोग जब से आंदोलन में जुड़े हैं सभी जातियों और धर्मों के लोगों के यहां पानी पीते हैं। उन्होंने बताया कि जब वह पहली बार 'चमारे खियां पानी पिये तब मुहना से पनिया बहरे निकसा आवत रहन' (जब चमार के यहां पानी पिया तो पानी मुंह से बाहर निकल रहा था) पर अब धीरे-धीरे सब आदत बन गई है। फिर उन लोगों को बताया कि जात-पात कुछ नहीं होता, सब मनुष्य एक हैं।

बवाना में सांप्रदायिक ताकतों की पराजय

■ सुनील कुमार

बवाना उत्तरी पश्चिमी दिल्ली का हिस्सा है। 12-13 साल पहले इसकी पहचान दिल्ली के पिछड़े इलाके में हुआ करती थी। औद्योगिक इकाइयों की संख्या गिनी-चुनी थी। यमुना पुस्ता, शान्तिवन, राजघाट की झुग्गियों को तोड़कर बवाना इलाके में बसाया गया जिसके कारण तेजी से इस इलाके का औद्योगिकरण हुआ।

बवाना जे.जे. कॉलोनी की आबादी एक लाख से अधिक है और हिन्दू-मुस्लिम जनसंख्या करीब 50-50 प्रतिशत है। हिन्दूओं में ज्यादातर पिछड़ी और दलित समुदाय से है। 90 प्रतिशत आबादी यूपी और बिहार से है। 100 प्रतिशत जनता मेहनतकश वर्ग से है। ज्यादातर लोग फैक्ट्रियों में काम करते हैं तो कुछ रेहड़ी-पटरी या कॉलोनियों में छोटे धंधे करके अपने परिवार के पेट की भूख शांत करते हैं। यहां की मेहनतकश जनता में, अचेतन रूप में ही सही वर्गीय एकता बहुत मजबूत है। उनको जाति या धर्म की दीवारों के बीच नहीं बाटा जा सकता है। यही कारण है कि 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर चलने वाली साम्प्रदायिक शक्तियां अभी तक सफल नहीं हो पायी हैं। इस कॉलोनी के 31-32 हजार वोटर किसी भी पार्टी को जीत दिलाने में एक निर्णायक भूमिका अदा कर सकते हैं।

बवाना में जब जे.जे. कॉलोनी को बसाया गया उस समय औद्योगिक विकास और अन्य कामों के लिए लेबर (मजदूर) की माँग थी। इसलिए इन कॉलोनीवासियों को दिल्ली के मध्य से उजाड़ कर दिल्ली के ऐसे इलाके में फेंक दिया गया जहां मानव जीवन के लिए कोई भी मूलभूत सुविधा नहीं हुआ करती थी। मेहनतकश आवाम के बल पर इस क्षेत्र का विकास हुआ। औद्योगिक कारखानों की संख्या में इजाफा हुआ और जमीन की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि हुई। जिससे गाँव वालों के पास पैसे आ गये और अच्छे मकान, अच्छी गाड़ियों की संख्या में इजाफा हो गया। जे.जे. कालोनी आने से पहले बवाना और आस-पास के गाँव के अधिकांश लोग किसानी जिन्दगी व्यतीत करते थे और उसी तरह के रहन-सहन में रहते थे। गाँव वाले जमीन का पैसा लेकर

और धंधे (विशेष कर किराये पर मकान, दुकान, गोदाम) करके मध्यमवर्गीय शहरी जिन्दगी जीने लगे। इन मध्यमवर्गीय शहरियों को जे.जे. कालोनी वाले 'गन्दे' लगने लगे और इन पर गन्दगी फैलाने व अन्य गैर-कानूनी काम करने का आरोप लगने लगे।

जे.जे. कालोनी का वोट बैंक कांग्रेस का था लेकिन 2013 के चुनाव में आप पार्टी ने यहां पर अपना पैर जमाया। इस कॉलोनी पर साम्प्रदायिक शक्तियों की गिद्ध दृष्टि लगी हुई है। यहां पर बकरीद के समय से लगातार धर्म के नाम पर लड़ने का प्रयास किया जा रहा है। बकरीद के दो दिन पहले इस कॉलोनी के सामने गाय लाकर बांध दी गई थी, जिसकी सूचना कॉलोनी के लोगों ने रात में ही पुलिस को दी। पुलिस ने तत्काल कदम उठाते हुए गाय को श्री कृष्ण गऊशाला में भिजवा दिया। बकरीद के समय कुछ लोग कॉलोनी में आये और कहने लगे कि गऊशाला से गाय चोरी हुई है, हम गाय खोज रहे हैं। उसके बाद से इस इलाके में साम्प्रदायिक उन्माद वाले पर्चे-पोस्टर बाँटे और चिपकाये जाते रहे हैं। एक पर्चे का जिक्र करते हुए रफीक ने बताया कि उस पर लिखा था, "कटती गाय की है यह पुकार, कहां गई हिन्दू तलवार"। इस तरह के हथकंडे अपनाने के बावजूद ये तत्व कॉलोनीवासियों की एकता को तोड़ नहीं पाये, जिसके कारण उनको इस बस्ती में दहशतगर्दी फैलाने का मौका नहीं मिला।

दहशतगर्द साम्प्रदायिक शक्तियों को 11 साल से जे.जे. कॉलोनी में मनाये जा रहे मुह्रम के रूप में एक मौका दिखने लगा। वे प्रचारित करने लगे कि मुह्रम के दिन ताजिया के समय मुस्लिम समुदाय शक्ति प्रदर्शन और महिलाओं के साथ छेड़-छाड़ करते हैं, इसलिए यह ताजिया जे.जे. कॉलोनी के अलावा और किसी इलाके में नहीं घुमाया जाये। इस बात को लेकर 26 अक्टूबर को एसीपी, डीसीपी, नरेला, बवाना थाने वा जे.जे. कॉलोनी वालों के साथ बवाना इ. एरिया के सेक्टर 3 के गोल चक्कर के पास एक मीटिंग हुई। इस मीटिंग में

सहमति हो गई थी कि वह ताजिया को अपने कॉलोनी तक ही सीमित रखेंगे। सहमति होने के बावजूद दो नवम्बर को बवाना में साम्प्रदायिक शक्तियों के संगठन भगत सिंह समिति द्वारा महापंचायत का आयोजन किया गया (जिसमें भाजपा विधायक समेत कांग्रेसी पार्षद उपस्थित थे) और समुदाय विशेष के खिलाफ भड़काऊ भाषण दिया गया। भगत सिंह समिति के संयोजक प्रदीप माथुर कह रहे हैं कि जुलूस पर सहमति का लिखित पत्र हमें प्राप्त नहीं हुआ इसलिए महापंचायत करना पड़ा। प्रदीप माथुर गऊ राक्षा समिति से भी जुड़े हुए हैं। पुलिस ने इस तरह के महापंचायत को होने दिया। किसी भी दल या संगठन पर कानूनी कार्रवाई नहीं की गई।

कॉलोनीवासियों की एकता

इस कॉलोनी में सभी धर्मों व जातियों के घर मिले-जुले हैं। वह एक दूसरे के सुख-दुख, शादी, त्यौहारों में भागीदारी करते हैं। एक दूसरे के घर आते-जाते, बैठते, काम करते हैं। बच्चे एक साथ खेलते और पढ़ते हैं। बाजार में उनकी एक साथ दुकाने हैं। किसी को किसी से कोई परेशानी नहीं है, सब एक दूसरे से मिल-जुल कर रहते हैं। उनकी शिकायत है तो सरकार से, जो कि अभी तक उनके लिए पीने की पानी नहीं दे पाई। कॉलोनी में एक डिस्पेंसरी थी वह भी बंद हो गई, स्कूलों में पढ़ाई नहीं होती।

जे.जे. कॉलोनी की चारों तरफ से पुलिस ने बैरकेटिंग कर रखी है। बच्चे उत्साहित हैं। जगह जगह पर ताजिया छोट-बड़े रिक्शे पर रखे गये हैं। ताजिया के पास मिट्टी का चबूतरा बना हुआ है। सोनू और 15-20 लड़के (जिनकी उम्र 10 से 25 साल है) हरा ड्रेस पहने, माथे पर साफा, हाथ में पंखरी लिये हुए चबूतरे पर जा-जा कर इमाम हुसैन के लिए आयतें पढ़ रहे हैं। बच्चे खुश हैं। लेकिन बड़े-बुर्जुग चिंतित है कि पता नहीं जुलूस निकल पायेगा कि नहीं। जगह-जगह खिचड़ी और शरबत बंट रहे हैं, जिसे कॉलोनी के हिन्दू-मुस्लिम सभी एक साथ बांट रहे हैं। ऐसे ही एक प्याऊ पर हमें ब्रह्मदेव यादव, हाजी मुहम्मद अरशद, राजेन्द्र तिवारी, रमेश कुमार, भोले शर्मा मिले। ये सभी लोग एक स्वर में बोले कि हम यहां 10-11 साल से प्रेम के साथ रहते आये हैं और साथ में मिल-जुलकर एक दूसरे के त्यौहार को मनाते हैं। ये कहते हैं कि हम एक ही थाली में

खाते हैं हमें कोई परेशानी नहीं है।

ए ब्लॉक में एक साथ दरवाजे के बाहर गीता देवी और रूबीना खातून बैठी हुई बातें कर रही थीं। जब मैंने उनसे इस तरह के माहौल के बारे में जानना चाहा तो वह हमसे ही पूछी कि यह क्यों हो रहा है? बोली कि हमें तो मीडिया से ही पता चला है कि ताजिया निकलने से रोका जा रहा है। हमारे मुहल्ले में तो सभी शांति से रहते हैं। हमें तो परेशानी है गंदी नाली, महँगाई से, हमें पीने के लिए पानी नहीं मिलता है। कमाई से ज्यादा खर्च हैं। हम लोगों की लड़ाई बच्चों को लेकर या गंदी नाली को लेकर हो जाती है। हम धर्म और जाति के नाम पर नहीं लड़ते हैं। हम मिल कर रहते हैं, बाहर वाले कुछ नहीं कर पायेंगे। हम लड़ कर भाग जायेंगे तो इससे हम लोगों को नुकसान होगा। रूबीना बोलती है कि हमें सरकार से दिक्कत है।

प्रियंका, रेनू, शालू, सलमा, छोटी, महज़बी, गुलशन पांचवीं, छठवीं की छात्र हैं, जो एक साथ खेल रही हैं। गुलशन के घर से सभी खाना खा कर आयी हैं। बताती हैं कि स्कूल में पढ़ाई नहीं होती है, खेलने के लिए जगह नहीं है, स्कूल में भी गंदगी रहती है। टीचर आती है तो फोन पर लगी रहती है, कोई शिकायत करने पर डांट कर बैठा देती है और पढ़ाती नहीं है, समय से पहले चली जाती है।

रूमा देवी 10 साल से इस कॉलोनी में रहती हैं वह कहती है कि “यह फिजूल की लड़ाई है। सभी एक साथ मिल-जुल कर रह रहते हैं तो उनको हटाना, लड़ाना फालूत का काम है। सभी चाहते हैं कि अच्छे से त्यौहार मनाएं। अगर हम इनके त्यौहार को आज रोकेंगे तो कल ये हमारा त्यौहार को रोकेंगे तो लड़ाई होगी कि नहीं? जो नेता पंचायत करते हैं वह गलत कर रहे हैं। लड़कर आज तक किसी को कुछ नहीं मिला है।” यहां बैठे अनवर बताते हैं कि हिन्दू, मुसलमान के बच्चे रोते हैं तो दोनों अल्लाह-अल्लाह करते हैं। यहां बैठे और लोग बताते हैं कि एक डिस्पेंसरी थी वह भी बंद हो गई, अब बवाना के लोगों को और ज्यादा बीमार होने पर पठकला अस्पताल जाना पड़ता है। शौचालय साफ नहीं रहता है, एक बार जाने पर दो रुपये देने पड़ते हैं।

मुझे एक कमरे में सीतामढी के फरियाज और मुंगेर के रहने वाले रितेश दिखे, जो कि साड़ी कढ़ाई का काम कर रहे थे। रितेश, फरियाज एक दूसरे को भईया और

बाबू कहते हैं। वो कहते हैं कि काम एक साथ करने में ही अच्छा लगता है। दंगा भड़काने पर बोलते हैं कि “हमें कुछ मालूम नहीं है कि बाहर क्या हो रहा है, हमारी ड्युटी सुबह 9 बजे से रात की 11 बजे तक होती है। इतनी लम्बी ड्युटी करने पर 300 रु. मिलता है।” धर्म कौन छोटा है और कौन बड़ा पूछने पर रितेश कहते हैं कि “कोई धर्म छोटा या बड़ा नहीं है। छोटा-बड़ा कहना सही बात नहीं है। धर्म जिसका हो उसके लिए ठीक है।” रितेश स्कूल से आकर 3 बजे से 11 बजे तक काम करते हैं और महीने का 5-6 हजार रुपये कमा लेते हैं। पिता बीमार हैं, दो भाई काम करके घर का खर्च चलाते हैं। रितेश का स्कूल के दोस्त में विशाल, अनवर, अर्जुन, विकास, इमरान हैं, जो सभी मिल-जुल कर रहते हैं।

रास्ते में सीता और हफीजा बेगम मिली। सीता का अपना घर है और हफीजा किराये के घर पर पति के साथ रहती है। हफीजा बताती है कि “हम होली, दीपावली मिल-जुल कर मनाते हैं। यहां के हिन्दू और मुसलमान साथ रहते हैं।” एक महिला आती है और सवाल करती है कि होली, दीपावली हिन्दूओं का त्यौहार अच्छा से मनता है, मुसलमान के त्यौहार में ऐसा क्यों हो रहा है? सीता कहती है कि “इस कॉलोनी को बदनाम किया जाता है कि यहां दारू, चरस बिकता है। सरकार इसको बनाती क्यों है? सरकार इसको बनाये नहीं, इससे हिन्दू, मुसलमान दोनों के लड़के बिगड़ते हैं। बवाना और बाहर से लोग पीने के लिए यहां आते हैं। पुलिस कुछ नहीं करती है। पुलिस के पास शिकायत करने पर अच्छे लोग को मार कर भगा देती है, बुरे को बैठाती है। सरकार 13 साल पहले यहां हम लोगों को लायी थी तो कोई रोजी-रोजगार नहीं था। अब यहां रोजगार हो गया तो सरकार भगाना चाहती है।”

प्रशासन की भूमिका

प्रशासन ने बकरीद से चले आ रहे माहौल में एक भी शरारती तत्व की गिरफ्तारी नहीं की और सारा खेल एक माह तक चलता रहा। जे.जे. कॉलोनी को ही समझा दिया कि आप जो जुलूस 10-11 साल से जिस रास्ते पर निकालते हो वहां नहीं जाओ, अपने को सीमित रखो। ताजिये के जुलूस में शामिल होने वाले लोगों, डंडों, हथियारों की पूरी जानकारी थाने को दी जाती है जिस पर थाने

की परमिशन होती है। लेकिन इस बार हथियारों की संख्या को काट कर पुलिस द्वारा दिये गये निर्देश का पालन किया गया। पुलिस की मौजूदगी में गैर कानूनी महापंचायत को होने दिया गया, किसी को रोका-टोका नहीं गया। मुहर्रम के दिन सामाजिक संगठन जब हालत को देखने, अध्ययन करने के लिए गये हुए थे तो उनके कार्यकर्ताओं (जिनमें महिलाएं भी थीं) को चुन-चुन कर पकड़ कर थाने ले जाया गया और रात के 9 बजे तक विभिन्न थानों में डिटैल करके रखा गया। ताजिये के ऊपर ड्रोन उड़ाये जा रहे थे जबकि असमाजिक तत्व खुलेआम घूम रहे थे।

जे.जे. कॉलोनी के अन्दर एक एकता दिख रही थी। बच्चे-बूढ़े, महिला-पुरुष किसी के अंदर कोई धार्मिक उन्माद नहीं था। मुहर्रम में जिस तरह माहौल खराब करने की कोशिश की गई उससे हिन्दू भी उतना ही क्रोधित थे जितना मुसलमान। हिन्दू-मुसलमान दोनों का व्यापार 35-40 प्रतिशत कम हो गया था। ए और ई ब्लॉक के बाजार में सड़कों पर दिखने वाली भीड़ गायब थी। बहुत से लोग खराब माहौल को देखते हुए रिश्तेदारों या अपने गाँव को चले गये थे। ताजिये के जुलूस में हिन्दू पुरुष-महिला शामिल थे। डी ब्लॉक की रहने वाली उर्मिला चौधरी ताजिये के जुलूस में तलवार और लाठियां भाँज रही थी। वह इस त्यौहार को अपने त्यौहार जैसा मना रही थी। उसी जुलूस में शामिल हसीना की माँग में हरे रंग का सिन्दूर और माथे पर बिंदिया उन्हें एक अलग पहचान दे रही थी। जे.जे. कॉलोनी वालों ने अपनी एकता के बल पर दंगाईयों के मुंह पर एक तमाचा जड़ा और अपने को सभ्य कहलाने वाले सामाज को जता दिया कि बस्ती में रहने वाले मेहनतकश कौम गंदी नहीं होती है। गंदे हैं सफेदपोश और गंदी है सरकार जो इस तरह की शक्तियों को बढ़ावा देती है। सरकार सामंती समाज से चले आ रहे खाप पंचायतों को प्रतिबंधित नहीं कर रही है और ‘फूट डालो, राज करो’ की नीति पर लोगों को बांटने का काम कर रही है। इसी फूट का लाभ उठा कर भारत का शासक वर्ग आम जनता का शोषण-दमन करती रही है। सभी सामाजिक संगठनों का दायित्व है कि वे हाल में हुए त्रिलोकपुरी व बवाना जैसी घटनाओं को रोकने के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रमों, पर्चे, पोस्टरों के द्वारा उनकी एकता को बनाये रखें ताकि वे जीवन के मूलभूत सुविधाओं के लिए संघर्ष कर सकें।

चलता-फिरता दवाई बैंक

77 साल के ओंकारदत्त शर्मा चलता-फिरता दवा बैंक हैं। नारंगी कुर्ता पहने जिस पर उनका मोबाइल नम्बर लिखा हुआ है और 'मेडिसन बैंक' भी छपा है। वे दरवाजे-दरवाजे जाते हैं लोगों से जो इस्तेमाल में न आई हों ऐसी दवाईयां माँगते हुए ताकि ये दवाईयां जरूरतमंदों तक पहुंच सकें। हालांकि उन्हें चलने में दिक्कत होती है पर फिर भी वे रोज़ कुछ किलोमीटर का फासला दवाईयां इकट्ठा करने के लिए तय करते हैं। बच्चे उन्हें 'मेडिसन बैंक' कहते हैं।

मोती बाग के जी ब्लॉक में पहुंचते ही वे आवाज़ लगाना शुरू करते हैं 'कृपया वे दवाएं दान में दें जो आपके इस्तेमाल में नहीं हैं।' उसके बाद वे रूप किशन राम मिंगरों के घर जाते हैं जिनके बेटे ने उन्हें फोन करके दवा देने के

लिए बुलाया था। 'हमने अपने पिता के लिए कई डॉक्टरों की राय ली जो डायलिसिस पर थे और लगभग सभी डॉक्टरों ने दवाई बदली जिसकी वजह से हमारे पास ढेर

सारी दवाईयां इकट्ठा हो गई। दुकानदार उन्हें वापस नहीं लेते।' रूप किशन के बेटे ने कहा - "इस डब्बे में हृदय रोग की दवाईयां भी हैं जो मैंने अपनी पत्नी के लिए खरीदी थीं जिसका अभी-अभी ही दिल का एक छोटा ऑपरेशन हुआ है। ओंकार दत्त शर्मा सभी दवाईयों की एक्सपायरी तारीख जाँच कर उन्हें अपने पॉलीथिन के थैले में रख लेते हैं।

परिवार को धन्यवाद देते हुए वे कहते हैं - 'बची दवाईयां दान में, ना कि कूड़ेदान में।'

शर्मा ने यह शुरुआत सात साल पहले की थी। वे खैराती अस्पतालों को दवाईयां दान में देते हैं ताकि उन्हें जरूरतमंदों को दिया जा सके।

वे मिंगरों के घर से बाहर निकलते हैं और

लगातार दवाईयों के लिए आवाज लगाते रहते हैं। एक अपार्टमेंट के ऊपरी माले से एक व्यक्ति उन्हें आवाज देकर रूकने का इशारा करता है और दवाईयों के एक पैकेट सहित नीचे आता है। शर्मा उसे धन्यवाद देते हैं और अपना कार्ड उसे देते हैं ताकि वे दूसरों को भी इसकी जानकारी दे सकें। अब उनका थैला भर चुका है और वे पश्चिमी दिल्ली के मंगोलपुरी इलाके जहां वे रहते हैं के लिए बस स्टैंड पर बस के लिए चल पड़ते हैं। बस में भी वे यात्रियों से अपने काम के बारे में बताते हैं और अपना कार्ड भी देते हैं, 'मुझे फोन कीजिएगा अगर आपके पास मुझे देने के लिए दवाईयां हैं।'

उनके दो कमरों के किराए के घर में जहां वे अपनी पत्नी और बेटे के साथ रहते हैं - एक कमरा बड़ी-बड़ी अलमारियां जिनमें दवाईयां हैं, से भरी हुई है। यहां एक रेफ्रिजरेटर भी है जिसमें बहुत महंगी दवाईयां भी हैं और जिसकी

वे बताते हैं 'मैंने इसे अपना मकसद बना लिया है। अधिक से अधिक लोगों को दवाई दान के बारे में बताना। कभी-कभी मुझे हजारों रुपये कीमत वाली कैंसर की दवाईयां भी मिल जाती हैं जो की गरीबों की पहुंच से बाहर हैं।'

एक बोतल की कीमत चार हजार रुपये है। एक तरफ एक कम्प्यूटर भी है जिसमें सभी दवाईयों के रिकॉर्ड हैं। जैसे कि दवाई के निर्माण और एक्सपायरी तिथि मात्रा और जहां से प्राप्त हुई है। एक दीवाल के सहारे एक सिंगल बेड भी है जिसका आधा हिस्सा दवाईयों से भरा हुआ है। उनके बारे में अखबार में छपी ख़बरें दीवाल पर चिपकी हुई हैं।

उनके चेहरे पर एक शांत मुस्कुराहट है। उनकी सबसे बड़ी खासियत उनकी साफगोई है। 'मैं खुद को एक भिखारी की तरह देखता हूं और दवाईयों के लिए भीख माँगने में मुझे कोई शर्म महसूस नहीं होती।' वे कहते हैं 'मैंने लोगों को मरते देखा है क्योंकि वे दवाईयां नहीं खरीद सकते थे।'

वे बताते हैं 'मैंने इसे अपना मकसद बना लिया है। अधिक से अधिक लोगों को दवाई दान के बारे में बताना। कभी-कभी मुझे हजारों रुपये कीमत वाली कैंसर की दवाईयां भी मिल जाती हैं जो की गरीबों की पहुंच से बाहर हैं।'

तकरीबन 50 साल पहले शर्मा रोजगार की तलाश में उदयपुर (राजस्थान) से दिल्ली आए थे। वे नोएडा के एक निजी अस्पताल में लैब तकनीशियन के पद पर काम करते थे। आज वे बहुत संतुष्ट हैं कि वे अपनी जिंदगी को किसी अच्छे मकसद के लिए लगा रहे हैं। 2008 के शुरुआती दिनों में उन्हें अपनी जिंदगी का मकसद मिला। एक दिन घर लौटते हुए उनके सामने एक दुख दुखद घटना घटी। दिल्ली में कड़कड़ूमा इलाके में एक ओवरहेड मेट्रो रेल की पटरी धराशायी हो गई जिसमें कई मजदूरों को घायलावस्था में गुरुतेग बहादुर अस्पताल ले जाया गया।

मैंने भी मदद कार्य में शिरकत की। पर अस्पताल में देखा कि स्टाफ बहुत से घायलों को यह कहकर वापस कर रहे थे कि दवाएँ उपलब्ध नहीं हैं। यहां तक कि रोजमर्रा इस्तेमाल की जाने वाली दर्द-निवारक दवाएं भी उपलब्ध नहीं हैं। यहां तक कि रोजमर्रा इस्तेमाल की जाने वाली दर्द-निवारक दवाएं भी उपलब्ध नहीं थीं। और घायलों के करीबी लोगों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे दवाइयों का खर्च उठा पाते।

वे घर आए और कुछ करने का तय किया। मैंने गूगल पर यह तलाशने की कोशिश की कि क्या देश में कोई दवा बैंक है। पर मुझे एक भी दवा बैंक नहीं मिला। फिर उन्हें याद आया कि उनके घर में भी कई गैर-इस्तेमालशुदा दवाएं हैं जो दूसरों के इस्तेमाल में आ सकती हैं।

मैंने सोचा कि जबकि कुछ सरकारी अस्पताल गैर-इस्तेमालशुदा दवाईयां वापस ले लेते हैं पर सामान्यतः लोग परेशानी नहीं उठाना चाहते और दवाईयां वापस नहीं

करते और तब उन्हें यह एहसास हुआ कि दवाईयां इकट्ठी की जानी चाहिए। उन्होंने तय किया कि वे इसके लिए कुछ करेंगे।

उनकी गुजर-बसर कैसे होती है? पूछने पर उन्होंने बताया कि 'ईश्वर उनके प्रति दयालु है।' जब से मैंने यह काम शुरू किया है मुझे काफी दान मिल जाता है जिससे मेरी जरूरियात पूरी हो जाती हैं। और मेरा परिवार भी काफी सहयोगी है। उनकी पत्नी शीला ने बताया कि शुरुआत में मुझे लगता था कि यह सनक गए हैं। मुझे इनका यूं भीख माँगना अच्छा नहीं लगता था। पर धीरे-धीरे मुझे इनके काम का महत्व समझ में आया। शीला जी ने बताया कि अब अखबारों में अपने पति की तस्वीर देख मुझे खुशी होती है।

आंकारदत्त शर्मा अपना एक स्वैच्छिक संगठन शुरू करने की योजना बना रहे हैं। इन सालों में स्वास्थ्य के क्षेत्र में काम कर रही विभिन्न संस्थाओं से उनका एक रिश्ता बना है और संस्थाओं से जुड़े डॉक्टर इनके साथ दिल्ली की झोंपड़पट्टियों में मरीजों की जांच करने व मुफ्त दवाईयां देने के लिए जाते हैं। उन्होंने बताया कि पिछले साल उत्तराखंड की आपदा के दौरान उन्होंने बहुत सारी दवाईयां भेजी थीं। विशाल मेगा मार्ट शृंखला के सहयोग से इन्होंने दिल्ली में उनके 150 स्टोर्स में ग्राहकों से गैर-इस्तेमालशुदा दवाईयां इकट्ठा करने के लिए बॉक्स रखे हैं।

क्या वे कभी थकते नहीं हैं? थकता हूं और अब तो उम्र होने के कारण ज्यादा थकता हूं। जब जरूरत होती है मैं आराम करता हूं। पर मेरी पूरी कोशिश हाती है कि सप्ताह के दिनों में जरूर जाऊँ क्योंकि ज्यादातर लोग घर पर होते हैं।

मेडिसन बाबा का एक सपना गरीबों का 'दवाई बैंक हो अपना।' साधारण से दिखने वाले इस शख्स का यह असाधारण संकल्प है।

साभार : डाउन टू अर्थ

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए